ओ३म्

...द्धार कैसे हो ?

(... ईश्वरोपासना हीं एकमात्र साधन है)

लेखक

स्वामी योगानन्द सरस्वती
आर्य्य संन्यासी

प्रथम संस्करण] [मूल्य ४ रु०

ओ३म्

जीवनोद्धार कैसे हो ?

(लौकिक जीवन ऐश्वर्य सम्पन्न व पारलौकिक जीवन मुक्ति प्रदाता हो।)

(इसके लिए)

(गायत्री मन्त्र और ईश्वरोपासना ही एकमात्र साधन हैं)

लेखक

स्वामी योगानन्द सरस्वती

आर्य्य संन्यासी

योगाध्यक्ष, योगाश्रम,

प्लाट नं० ९७, आर्य्यनगर अलवर (राजस्थान)

मूल्य ४ रु०

● लेखक

स्वामी योगानन्द सरस्वती

आर्य्य सन्यासी, योगाध्यक्ष
योगाश्रम, प्लाट नं० ९७
आर्य्य नगर (अलवर), राजस्थान

● प्रकाशक

कृष्ण बलदेव महाना

प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

● प्रथमावृत्ति
सन् १९७५

● मुद्रक

डी० के० प्रिन्टर्स

मोती नगर, लखनऊ

● मूल्य
चार रुपये मात्र

तमसो मा ज्योतिर्गमय

आर्य सन्यासी स्वामी योगानन्द जी योगाध्यक्ष योगाश्रम, प्लाट नं० ६७, आर्यनगर अलवर, राजस्थान द्वारा लिखित पुस्तक 'जीवनोद्धार कैसे हो' के प्रकाशन का भार श्री कृष्ण वलदेव महाना प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश, ने अपने ऊपर लेकर धर्म प्रेमी जनता के लिए महान उपकार का कार्य किया है। आप कर्मठ आर्य नेता हैं। मुझे उनके साथ दैनिक सत्संग का सुयोग प्राप्त होता है।

आप ६-७ वर्षों तक जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा, लखनऊ के प्रधान रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के कोषाध्यक्ष रहे। व सम्प्रति प्रधान के पद को सुशोभित कर रहे हैं। आप निस्पद भाव से समाज सेवा में रत रहते हैं।

यह पुस्तक आप अपने निजी धन से जनता के लाभार्थ प्रकाशित कर रहे हैं।

पुस्तक में स्वामी जी ने परमात्मा साक्षात्कार का उपाय बड़े ही सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। इतने गम्भीर विषय को जितने सुरुचि पूर्ण ढंग से स्वामी जी ने प्रस्तुत किया है वह स्तुत्य है।

जिज्ञासु पाठक पुस्तक का पठन, मनन व अनुशीलन करके निश्चय ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ईश्वर जीव प्रकृति सत्चित् आनन्द को भली प्रकार जान व समझ कर अपने जीवन को परिष्कृत कर परमानन्द प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ने में सक्षम हो सकेंगे।

यह पुस्तक प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी, जिज्ञासु भक्त के लिए संग्रहणीय है।

ऋषि बोध पर्व
दिनांक १०-३-७५
वेद मन्दिर
हिन्दनगर, लखनऊ-५।

वेदव्रत अवस्थी
मुख्योपमन्त्री
आ. प्र. सभा, उ. प्र.

लेखक :
स्वामी योगानन्द सरस्वती
आर्य्य संन्यासी, योगाध्यक्ष
योगाश्रम, प्लाट नं० ९७
आर्य्य नगर (अलवर)
राजस्थान ।

प्रकाशक :
कृष्ण बलदेव महाना
प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा
उत्तर प्रदेश,
लखनऊ ।

ध्यान देने योग्य विषय

[मनुष्य अतुलित शक्तियों का भण्डार है ।]

प्रकृति के एक-एक अणु से जितनी शक्तियों का आविष्कार आज हुआ है, उसकी अपेक्षा सहस्रों गुणा अधिक शक्ति एक-एक प्राणी में विद्यमान है । मानव यदि उस शक्ति को जागृत कर ले, तो वह संसार में अद्भुत चमत्कार दिखा सकता है । विश्व के इतिहास में जितनी भी बड़ी-बड़ी राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रान्तियां हुई हैं, उनके मूल में एक-एक अति मानव ही रहा है ।

देश के नवयुवको ! जागो और देश की तथा समय की पुकार को सुनो और अपनी संस्कृति के अनुकूल जीवन को बनाने का प्रयत्न करो, ताकि तुम्हारा ही कल्याण न हो, किन्तु मानव जाति का भी उत्थान हो । भविष्य आप पर निर्भर है ।

पुस्तकें मिलने का पता—

कृष्ण बलदेव महाना
९ डी० सिगार नगर,
लखनऊ-५ ।

एवम्

स्वामी योगानन्द सरस्वती
आर्य सन्यासी, योगाध्यक्ष
योगाश्रम, प्लाट नं० ९७
आर्यनगर (अलवर)
राजस्थान ।

लेखक—

जन्मतिथि दीपावली १८८० ईस्वी।

स्वामी योगानन्द सरस्वती

आर्य सन्यासी

जीवनोद्धार कैसे हो ? पर वक्तव्य

वर्तमान काल एक वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिकों ने नये २ आविष्कारों को जन्म देकर संसार को चकित ही नहीं कर डाला, किन्तु अपने २ देश की आर्थिक उन्नति में जहाँ चार चाँद लगा दिये हैं, वहाँ नूतन आविष्कारों ने संसारको इतना अन्धा भी बना दिया है कि उस देशके निवासी—धर्म और ईश्वर—को बिल्कुल ही भूल बैठे हैं, जिसके कारण उन विज्ञान सम्पन्न देशोंका नैतिक पतन अकथनीय दशाको पहुंच चुका है।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान—जहां किसी पदार्थके तत्वोंका विश्लेपण कर उन विश्लिष्ट तत्वोंसे किसी नये पदार्थका आविष्कार कर देता है, वहां—धर्म—उस पदार्थके गुणों को प्रकटकर उसे उचित रूपसे प्रयुक्त करना सिखाता है। किसी पदार्थका गुण ही उस पदार्थका—धर्म— कहलाता है। विज्ञान किसी देशकी जहां आर्थिक स्थितिको सुधारनेमें सहायक है, वहां धर्म उस देशके निवासियोंको यथार्थ मार्ग पर चलना सिखाया करता है। धर्मान्तर्गत रहनेसे ही मनुष्य सदाचारी, संयमी और परोपकारी बंना करता है; किन्तु धर्मरहित विज्ञानानुकूल चलनेसे मनुष्य व्यभिचारी, स्वेच्छाचारी तथा स्वार्थी बन जाया करता है। सधर्म विज्ञान ही किसी देशकी समुन्नतिमें सहायक हो सकता है। बिना धर्मके विज्ञान एक अधूरी वस्तु है, जो कभी-कभी तो प्रलयकारी दृश्य भी उत्पन्न करा दिया करती है।

कोई भी गुण अपने गुणीसे पृथक् नहीं हुआ करता है, अर्थात् प्रत्येक गुण अपने गुणीके साथ ही रहा करता है; इसीलिये प्रत्येक पदार्थमें, जो विशेषता है, वही उसका धर्म भी है। अग्निका गुण है जलाना। यह जलाना ही इस अग्निका धर्म है। यदि अग्निमें जलानेकी शक्ति न रहे, तो फिर उसे कोई भी अग्नि—नहीं कहेगा। उसे ऐसी दशामें लोग—भस्मी—कहेंगे। इसी प्रकार मनुष्यका धर्म है—मनुष्यत्व—। यदि मनुष्य अपने मनुष्यत्वका त्याग करदें

तो फिर वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी भी नहीं रहता। जब तक मनुष्य मनुष्य है, तबतक ही उसके वैज्ञानिक कार्य्य भी चलते रहते हैं; इसीलिये कहा है—धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः—जब तक कोई पदार्थ अपने धर्मपर है, तब तक ही उस पदार्थका अस्तित्व भी है। धर्मके त्यागते ही उस पदार्थका अस्तित्व भी नष्ट हो जाया करता है।

इस विश्वमें—जड़ और चेतन—दो ही प्रकारके पदार्थ हैं। उन चेतनमें भी कुछ तो मनुष्य हैं और कुछ पशु-पक्षी आदि। दोनोंमें भी यदि कोई अन्तर है, तो वह भी उसके गुणोंका ही है; इसीलिये नीतिशास्त्रोंमें कहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्

धर्मोहितेषामधिको विशेषो, धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।

पशु-पक्षी और मनुष्योंमें खाना-पीना, सोना, भोग-विलास तो सब ही समान रूपमें मिलते हैं। यदि इन दोनोंमें कोई अन्तर है, तो वह यही है कि मनुष्य अपने धर्मको समझता है, जिसकी सहायतासे वह अपने पूर्वकृत कर्मोंका इसी जीवनमें भुगतान कर सकता है और गायत्री मन्त्र तथा ईश्वरोपासना द्वारा अपने लिये ब्रह्मलोकमें पहुंचनेकी तैयारी भी कर सकता है। यह सब कुछ मनुष्यके अपने आधीन है। केवल इतना आवश्यक है कि—अपने कर्तव्यके प्रति—दृष्टिकोण उच्च हो; लगन हार्दिक हो; श्रद्धा अटूट हो; और परिश्रम अथक हो—बस, फिर सफलता साधकके पैर चूमा करती है।

जड़ और चेतन सबके सामूहिक रूप इस विश्वको यदि एक कार्य्य मान लिया जाय, तो इसका कोई कारण भी मानना ही पड़ेगा। इस विश्व रूप कार्य्यको, जो एक महती-शक्ति नियमानुकूल और मर्यादानुकूल चलाती रहती है, उसे ही इस विश्वका कारण कहा जाय, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। इस महती शक्तिको ही वेदशास्त्रोंने—ईश्वर—संज्ञा दी है। यह ईश्वर ही इस विश्वका—प्राण—है और उस प्राणसे ही इस विश्वका अस्तित्व है। ज्ञान और विज्ञानद्वारा ही उस ईश्वरके अस्तित्वका पता भी चलता है।

इस विश्वमें मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अवश्य किसी—धनवान, बलवान या बुद्धिमान—की खोजमें लगा रहता है, ताकि धनवानसे तो उसे आर्थिक संकटमें सहायता मिल जाय; वलवानसे किसीके द्वारा सताये जानेपर रक्षा हो सके और विद्वान्से उसके अपने अनुभवद्वारा कोई आपत्ति आने पर सान्त्वना प्राप्त हो सके। यदि उसे कोई ऐसा पुरुष मिल जाय, जो सबसे अधिक धनवान है, सबसे अधिक बलवान है और सबसे अधिक विद्वान है, तो यह उसका सौभाग्य है। वेदशास्त्रोंमें ऐसे पुरुषको ही—पुरुष विशेष—या—ईश्वर कहा है।

मानव जीवनकी सफलताके लिये—धर्म, विज्ञान और ईश्वर—तीनों ही आवश्यक हैं। लौकिक जीवनके लिये जहां विज्ञान. वहां पारलौकिक जीवन के लिये धर्म। लौकिक जीवनको ही पारलौकिक जीवनका साधन बनानेके लिये—गायत्रीमन्त्र तथा ईश्वरोपासना—की आवश्यकता है। या यों कहियेकि उस महान् प्रभुके ज्ञान और विज्ञान सम्बन्धी नियमोंका पालन करना परमावश्यक है और इसीमें मानव-जीवनका कल्याण भी निहित है। लोहा जैसे अग्निमें पड़कर अग्निरूप धारण कर लिया करता है, उसी प्रकार प्रत्येक उपासक गायत्री मन्त्र तथा ईश्वरोपासनाके निरन्तर अभ्याससे निर्विकार हो उस निर्विकार महाप्रभुसे मेल कर सकता है। फिर उसके प्रारब्ध कर्मोंका भुगतान भी इसी जीवनमें हो जाया करता है। प्राणान्तर वह व्यक्ति ब्रह्मलोकका अर्थात् मुक्तात्माओंके साथ निवास करनेका अधिकारी बन जाता है।

इस पुस्तकमें यह बात समझाई गई है कि मनुष्य किस प्रकार अपने जीवनका उद्धार कर सकता है? मेरे इस तुच्छ परिश्रमसे यदि पाठकगणके मनोविकार, मनोविचारोंमें परिवर्तित हो गये, तो मैं भी अपनेको कृतकृत्य समझूंगा।

विनीत—

स्वामी योगानन्द सरस्वती

ईश्वर, जीव और प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध

तीनों ही अनादि है, किन्तु जीव और ईश्वर तो चेतन तत्त्व हैं और प्रकृति जड़। इस संसार की रचना में तीनों का ही सहयोग है। जीव ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुकूल अपने प्रारब्ध-कर्मों का भोग भोगने के लिये प्रकृति से मिलकर जब अपने शुभ संस्कारों के कारण मानव शरीर धारण कर लेता है, तब यदि सत्संग और सद् ग्रन्थों का स्वाध्यायकर और उनसे प्रभावित हो, ईश्वर-भक्ति की ओर आकर्षित हो गया, तो फिर किसी भी यौगिक शैली का अनुकरण कर जीव भाव से आत्म-भाव में पहुँच जाया करता है और फिर प्राणान्त पर किसी निश्चित काल के लिये मुक्तात्माओं में रहने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। यही मानव शरीर धारण करने से लाभ भी है। इतना ही ईश्वर, जीव और प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध भी है। इस मुक्तावस्था में जीवन का पहुँचना—गायत्री मन्त्र तथा ईश्वरोपासना—पर आश्रित है। यदि मनुष्य ने इन दोनों के वास्तविक अर्थों को समझ उनके अनुकूल अपने जीवन को बना लिया तो वह अवश्य जीवन लक्ष्य में सफलीभूत हो जायेगा, अतः प्रत्येक नर-नारी को अपने लाभार्थ इस मार्ग का अनुकरण करना चाहिये।

——::——

गायत्री मन्त्र और ईश्वरोपासना के आठ मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ईश्वरोपासना के आठ मन्त्र

१–ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रंतन्न आसुव ॥१॥

२–ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

३–ओ३म् य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

४–ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव,
या ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

५–ओ३म् येन द्यौरुग्राः पृथ्वी चदृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

६–ओ३म् प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव,
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

७–ओ३म् सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥७॥

८–ओ३म् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् !
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम ॥८॥

——::——

गायत्री मन्त्र महिमा

(यह महाप्रभु की प्रेरणा है; इसीलिए इसे –गुरु मन्त्र– कहते हैं।)

इस मन्त्र का ऋषि तो – विश्वामित्र – है, देवता–सविता–छन्द –गायत्री–है।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गोदेवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात्।

इस मन्त्र में ईश्वर की–स्तुति, उपासना और प्रार्थना–तीनों हैं। स्तुति–ओ३म् भूर्भुवः स्वः। उपासना—तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गोदेवस्य धीमहि। प्रार्थना—धियो यो नः प्रचोदयात्।

शब्दार्थ

ओ३म् = ईश्वर का मुख्य नाम यही है।
भूः = सत्। भुवः = चित्।
स्वः = आनन्द। सवितुः = सृष्टि कर्ता
देवस्य = परमात्मा के। तत् = उस।
वरेण्यम् = पूजने योग्य।

भर्गः = शुद्ध और पवित्र तेज का।
धीमहि = हम ध्यान धरते हैं।
यः = जो तेज।
नः = हमारी।
धियः = बुद्धियों को।
प्रचोदयात् = सन्मार्ग पर लगावें।

सरलार्थ

हे सुख स्वरूप परमात्मन्। आप सकल जगत् के कर्त्ता और सर्वश्रेष्ठ हैं। आप दिव्य गुणों के भण्डार हैं। हम आपका ही ध्यान धरते हैं। आपसे यही प्रार्थना है कि आप हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग पर लगाइये, ताकि हम इस संसार रूप भव सागर से पार हो जायें।

गायत्री मन्त्र के देवता–सविता–से भक्त की विनय

एक भक्त परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मेरी बुद्धि को ऐसी बना दीजिए कि मैं निरन्तर आपका ही ध्यान धरता रहूं और उसी में ऐसा लवलीन हो जाऊँ कि मेरा जीव भाव आत्मभाव में बदलकर निरन्तर उसी में स्थिर रहा करे।

भक्त जब अपनी बुद्धि को भी परमात्मा को अर्पण कर देता है, तब भक्त को आत्मभाव में रहने का आनन्द भी अनुभव हुआ करता है। यही गायत्री मन्त्र का सार भी है और इसे ही भक्त की सविता देव से विनय भी कही जा सकती है।

गायत्री मन्त्र पर कविता

हे सर्व रक्षक! — ओ३म् —तुमको बारम्बार प्रणाम है।
प्राण प्रिय —भूः—दुःख विनाशक, भुवः—तुम्हारा नाम है॥
सत्चित् —स्वः—आनन्द कन्द, मंगलमूल, तुम सुखस्वरूप हो।
हम हैं प्रजा सब आपकी, तुम ही हमारे भूप हो॥
माता-पिता,— सविता – तुम्ही, हे देव! दिव्य प्रकाश हो।
हम ग्रहण करते हैं—वरेण्यम्— भक्त जन की आश हो।
शुभ गुण सदन विज्ञानसागर —भर्गः-प्रिय भुवनेश हो।
हम हैं उपासक आपके, तुम ज्ञान-गम्य गणेश हो॥
मानस-भवन में आपका, हम ध्यान नित धरते रहें।
प्रेरित करो बुद्धि हमारी, —दुरित—सब हरते रहें॥
हो भव्य भावों से भरा, भगवान् यह घर आपका।
निश दिन सुमंगल गान हो, दर्शन भी होवे आपका॥

गायत्री मन्त्र महिमा

गायत्री शब्द में दो खण्ड हैं।—गाय+त्री—जिसमें—गाय—का अर्थ होता है—शरीर—या यों कहिये—ईश्वर की महती सत्ता, जिनकी सहायता से हमारा यह मानव शरीर रचा हुआ है, अर्थात् सत्ता का विकृत रूप—प्रकृति—और—त्री—का अर्थ होता है—तारने वाली, या उद्धार करने वाली। सम्पूर्ण शब्द - गायत्री—का अर्थ हुआ—ईश्वर की वह महती शक्ति जिसकी सहायता से प्रकृति जन्य इस मानव शरीर में रहने वाले जीवात्मा का उद्धार हो जाय, या यों कहिये कि ईश्वर की दया से यह जीवात्मा भव सागर को पार करके और मुक्तात्माओं में सम्मिलित होकर सदैव के लिए जीवन—मरण से छुटकारा पा जाय; अतः गायत्री मन्त्र की महिमा शब्दों द्वारा वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर की बात है।

इस मन्त्र के तीन खण्ड हैं–(१) ओ३म् भूर्भुवः स्वः। इस खण्ड में उस विधि का वर्णन है, जिसके द्वारा मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक तापों से मुक्त हो सकता है और तत्पश्चात उसे जिस आनन्द का अनुभव हुआ करता है, उसका भी विस्तृत वर्णन किया हुआ है। यह आनन्द जीवात्मा को किस प्रकार निरन्तर प्राप्त होता ही रहे, उसका विस्तृत वर्णन इस मन्त्र के द्वितीय खण्ड तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि–में उल्लिखित है। जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि रूप धारण कर लिया करता है, वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा के सम्पर्क में आकर परमात्म–सदृश बन जाता है, अर्थात जीवभाव आत्मभाव में आ जाता है। यदि जीव भाव निरन्तर आत्म भाव में ही बना रहे, तो इसे ही –ईश्वरोपासना–कहते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति बनाये रखने के लिए मनुष्य को तत्सम बनना ही पड़ता है। तत्सम कैसे बने ? यही—भर्गो देवस्य धीमहि–में स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि जब तक मनुष्य की बुद्धि निर्मल नहीं बन जाती, अर्थात् उसे मेधाबुद्धि की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक उस में आत्म-ज्ञान का प्रादुर्भाव होता ही नहीं, और जब तक आत्म ज्ञान रूपी तेज मनुष्य को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक पारलौकिक आनन्द प्राप्ति तो दूर रही, उसे लौकिक सुख भी प्राप्त होना दुर्लभ होता है; इस लिये गायत्री मन्त्र के तीसरे खण्ड —धियो यो नः प्रचोदयात्-में उस विधि का वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा—मेधाबुद्धि— की प्राप्ति हुआ करती है। यह मेधाबुद्धि मनुष्य को जन्म से ही ईश्वर-प्रदत्त है, जिसे—कुण्डलिनी शक्ति-भी कहते हैं; किन्तु यह शक्ति मनुष्य की उसके सांसारिक ममता मोह के जाल में फँस जाने के कारण सुषुप्ति अवस्था में पड़ जाया करती है। किस प्रकार इसकी पुनः जाग्रति की जाय यही इस खण्ड में वर्णित है, इसीलिये इस खण्ड को इस मन्त्र का प्रार्थना खण्ड कहते है।

वेदों में मानव कल्याणार्थ इससे सुन्दर :विधि किसी भी अन्य मन्त्र में वर्णित नहीं की गई है, इसीलिये इस मन्त्र का महत्व सबसे अधिक माना गया है। जो भी व्यक्ति अपने लौकिक राजनैतिक तथा व्यापारिक जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहता है, वह इस लघु पुस्तिका को आद्योपान्त अवश्य पढ़ें। फिर यह मन्त्र उसे मुग्ध ही नहीं कर लेगा किन्तु उसे तदनुकूल आचरण करने के लिये अपनी ओर आकर्षित भी कर लेगा। यही इस मन्त्र की विशेषता है।

गायत्री मन्त्र ईश्वरीय वह महती शक्ति है, जिसकी आराधना से मनुष्य को प्राणान्त पर देवयोनि प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ करता है; इसी कारण इस मन्त्र की महिमा अपरम्पार है।

———::———

गायत्री मन्त्र का भावार्थ

प्रभु–प्रेरणा की झन्कार सुनने के लिए हृत्तंत्रीकी
तारें–मन, बुद्धि और आत्मा–को एक
स्वर करना अनिवार्य्य है।

गायत्री मन्त्र मानव कल्याणार्थ एक ईश्वरीय प्रेरणा है, जो जीवात्मा को परमात्मा के दर्शन का सौभाग्य प्रदान करती है; किन्तु इस प्रेरणा को सुनने के लिए ऋषि महर्षियों ने घोर तपस्या की थी; फिर भला एक साधारण व्यक्ति केवल मौखिक बातों से ही उस आनन्द का प्राप्त करना चाहे, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

वह महाप्रभु सर्व व्यापी है; इसलिए उसकी प्रेरणा भी सर्वत्र विद्यमान है, जिसे प्राकृतिक विभूतियां चिल्ला–चिल्लाकर जतला रही हैं कि तनिक हमारी भी ओर ध्यान दीजिए—

पर्वत कहता शीश उठाकर, तुम भी ऊँचे उठ जाओ।
सागर कहता लहरा करके, मन में गहराई लाओ।
पृथ्वी कहती धैर्य न छोड़ो, सरपर हो कितना ही भार।
नभ कहता है फैलो इतना, ढकलो तुम सारा संसार॥

किन्तु इसे सुनने के लिए—आत्म-विश्वास, योग्यता और प्रयत्न—भी तो मनुष्य में होना चाहिए। इस विषय में मनुष्य का शुद्ध, निर्मल तथा परिपूर्ण हृदय से प्रकाशमय संकल्प ही—आत्म-विश्वास होता है; शारीरिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य धारण करना ही साधक की—योग्यता—कहलाती है, और सद्भावना युक्त अभ्यास ही—प्रयत्न—है। जैसे वीणा की तारें एक स्वर हुये विना कभी भी आवाज नहीं देती, वैसे ही हृत्तन्त्री की तारें—मन, बुद्धि और आत्मा—के एक हुये विना, प्रभु प्रेरणा की झन्कार भी

साधक की समझ में नहीं आया करती है। जब साधक का मन, बुद्धि और आत्मा तीनों सम स्वर हो जाते हैं; तब प्रभु प्रेरणा भी तुरन्त समझ में आ जाया करती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य का दृष्टि-कोण उच्च हो, लग्न हार्दिक हो, परिश्रम अथक और श्रद्धा अटूट। फिर उस महा प्रभु से नाता जुड़ना तथा उसके दर्शन होना कोई कठिन बात नहीं है। नाता जुड़ते ही उस महाप्रभु की प्रेरणा साधक के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य ही नहीं करती; किन्तु मुक्ति प्रदाता बन जाया करती है, जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि रूप धारण कर लेता है, वैसे ही साधक का ईश्वर से मेल होते ही उसका जीव-भाव भी आत्म भाव में बदल जाया करता है।

अन्धकार और प्रकाश दोनों कभी भी न तो साथ रहे हैं और न रहेंगे। महाप्रभु के दर्शन होते हीं जीवात्मा जगमगा उठता है। फिर जीवन ही बदल जाया करता है। अज्ञान रूपी अन्धेरे का तो नाश हो जाता है। और आकाश की ज्योति हृदय में जगमगाने लगती है। ऐसे व्यक्ति का जीवन अपने लिए तो आनन्दमय बन ही जाता है; किन्तु दूसरों के लिए भी पथ प्रदर्शन का कार्य करने लगता है।

भारत वर्ष किसी समय अपनी आध्यात्मिकता तथा सर्वोत्तम संस्कृति के कारण विश्व का गुरू बना हुआ था। इसी कारण देश देशान्तरों से लोग अपने लौकिक जीवन को पारलौकिक जीवन बनाने के लिए यहां विद्याध्ययन करने ऋषि मुनियों के पास आया करते थे। इस भारत भूमि को सब ही देवताओं का निवास स्थान कहा करते थे। दुर्भाग्य वश जब से हमने अपनी संस्कृति तथा विद्या का तिरस्कार किया है, तब से हम भी रसातल में जा पहुंचे हैं। सच कहा है कि जिसने अपनी संस्कृति का त्याग कर दिया, वह अपने अस्तित्व को ही खो बैठा।

अब भारत स्वतन्त्र है; अतः हमारा अब यह पुनीत कर्त्तव्य बन जाता है कि अपने ऋषि महर्षियों के पद चिन्हों पर चलकर केवल अपना ही उद्धार न करें; किन्तु फिर से विश्व व्यापी अशान्ति का नाश करके संसार को फिर से स्वर्ग बना दें, ताकि विश्व के प्राणी फिर से यहीं कहें कि—वह वृद्ध भारत गुरु है हमारा।

गायत्री मन्त्र क्या है

(मेधा बुद्धि अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति)

गायत्री वह शक्ति है जो प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर की ओर से मातृ-गर्भ में आते समय मिला करती है। यह शक्ति जीवात्मा के मातृ गर्भ में रहते हुए तो जाग्रत रहती है, किन्तु मातृ गर्भ से बाहर आते ही मस्तिष्क स्थित सहस्रार चक्र से चलकर षट् चक्र भेदन करती हुई स्वाधिष्ठान पर आकर स्वम्भू लिंग से ३½ अलवेटे लगाकर सुषुप्ति अवस्था में आ जाया करती है। इसे ही—मेधाबुद्धि वा कुण्डलिनी शक्ति—कहते हैं। यदि इसे पुनः जाग्रत करके सहस्रार में पहुंचा दी जाय, तो जीवभाव आत्म भाव में आ जाया करता है। इस शक्ति के न जागने तक ही मनुष्य अल्पज्ञ रहता है।

यह वह ईश्वरीय बल है जिसे ऋषि और महर्षि प्राप्त करके अपने लौकिक जीवन को ही पारलौकिक जीवन में ढाल लिया करते थे। इस विद्या को महर्षिगण अपने शिष्य वर्ग को सिखाकर उन्हें ज्ञान तथा विज्ञान की उच्चतम अवस्था तक पहुंचा दिया करते थे। भारतवर्ष में न तो आधुनिक ढंग के महाविद्यालय थे और न यूनिवर्सिटियाँ; केवल साल दो साल ऋषियों के पास पढ़कर ऐसे धुरन्धर विद्वान् बना करते थे कि उनकी बनाई हुई पुस्तकें आज कई-कई वर्ष पढ़नेपर भी भली प्रकार समझमें नहीं आती।

भारतवर्ष के विद्वान यदि फिर से इस यौगिक शैली की ओर ध्यान दें, तो वे केवल अपना ही कल्याण नहीं करेंगे, किन्तु पुनः विश्व का पथ प्रदर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

——::——

गायत्री मन्त्र-सिद्धि के लिये मेधाबुद्धि-प्राप्ति एक अनिवार्य्य विषय है ।

मेधा बुद्धि ही गायत्री माता के चरण-चुम्बन का सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि साधन है । मेधाबुद्धि के अभाव में परिवर्तन शील यह वर्तमान मानव जीवन दुःख तथा शोक के समुद्र में गोते लगा रहा है । विषयासक्ति रहते हुए मेधा बुद्धि प्राप्ति का प्रयत्न निरर्थक प्रमाणित हुआ है । विषयासक्ति का उन्मूलन तो सर्वाधिकारी प्रवृत्ति तथा वासना रहित निवृत्ति पर ही सम्भव है. क्यों कि विवेक रूप सूर्य के उदय होते ही विषयासक्ति रूपी अन्धकार स्वतः ही नष्ट हो जाया करता है ।

मेधाबुद्धि प्राप्ति के लिये—तप और त्याग—दोनों की हो आवश्यकता है । तप (शुभकार्य्यों में तल्लीनता) से शक्ति का सम्पादन हुआ करता है और —त्याग— (आवश्यकता को अनावश्यकता समझ लेने से) निर्वासना का प्रादुर्भाव होता है, तत्फल स्वरूप विषया शक्तियों का स्वतः ही उन्मूलन हो जाया करता है । तत्पश्चात् ही साधक गायत्री मन्त्र की आराधना का अधिकारी बना करता है ।

अब साधक द्वारा अपनी निर्बलता के अनुरूप ईश्वर से प्रार्थना और प्रार्थना के अनुकूल उसकी स्तुति स्वभावतः ही होने लगती है । स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अनावश्यकता से निवृत्ति प्रार्थना में निहित है । अतः प्रार्थी के लिए अपने अभाव की पूर्ति निमित्त ईश्वर की स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना का करना अनिवार्य बन जाता है । इन्ही तीनों बातों का विस्तृत वर्णन गायत्री मन्त्र में किया गया है । जीवन की सफलता के लिये श्री गायत्री माता का हाथ उपासक पर सर्वोपरि माना गया है ।

गायत्री मन्त्र वेदों का सार है, अतः यही ईश्वरीय आदेश भी है । गायत्री मन्त्र की सिद्धि के लिए मेधाबुद्धि की आवश्यकता है और मेधा-बुद्धि की प्राप्ति के लिए शारीरिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य धारण करना अनिवार्य है, जिसके अभाव में गायत्री माता तक पहुंचना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है ।

———

गायत्री मन्त्र के जाप से लाभ

गायत्री मन्त्र के जाप से मनुष्य को एक बड़ा सुन्दर उपदेश मिला करता है। इस गायत्री मन्त्र में ईश्वर-स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना तीनों ही आ जाती है। वह महाप्रभु ईश्वर सर्व व्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी है। जो भी उसकी शरण में चला जाता है, वह हर प्रकार से ऐश्वर्य शाली बन जाया करता है, और प्राणान्त पर जीवन मुक्त आत्माओं में सम्मिलित होकर जन्म-मरण के चक्कर से बच जाया करता है, इसीलिए गायत्री मन्त्र का जाप महाप्रभु की शरण में पहुंचने के लिए एक अमोघ अस्त्र है।

——::——

मेधाबुद्धि की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रियता ही सर्वोपरि साधन है ।

जितेन्द्रियता का पर्य्यायवाची शब्द है—ब्रह्मचर्य्य—और यही सदाचार की जननी है । सदाचार ही मनुष्य का मूल्य है । सदाचारी व्यक्ति सबका ही विश्वासपात्र बन जाया करता है । जो व्यक्ति यह जानता है और हृदय से मानता भी है कि उसके सभी भले-बुरे कर्मों को ईश्वर देख रहा है और न्याय व्यवस्था भी उसी के हाथों में है । कोई व्यक्ति भी अपने किये हुए कर्मों के भोग से बच नहीं सकता, चाहे वह राजा है या रंक; साधारण व्यक्ति है या ईश्वर का बड़े से बड़ा भक्त । परमात्मा को सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी मानने वाला ही आन्तरिक सदाचारी हुआ करता है । एक सदाचारी व्यक्ति ही ईश्वरोपासना से जीवभाव से आत्मभाव में पहुंचकर मुक्ति का अधिकारी बनता है । ऐसे ही व्यक्ति को ईश्वरोपासना प्यारी भी लगा करती है ।

ब्रह्मचर्य्य जहाँ शारीरिक है वहाँ यह मानसिक भी । मानसिक ब्रह्मचर्य्य ही शारीरिक ब्रह्मचर्य्य की आधारशिला है । मानसिक ब्रह्मचर्य्य से ही शारीरिक ब्रह्मचर्य्य तो स्वतः ही सध जाया करता है । प्रायः शारीरिक ब्रह्मचर्य्य साधनों के अभाव; राज्य दण्ड के भय तथा सामाजिक बन्धनों के कारण भी बन जाया करता है; किन्तु मानसिक ब्रह्मचर्य्य केवल ईश्वर भक्ति द्वारा ही दृष्टिकोण के शुद्ध रहते सधा करता है । ब्रह्मचर्य सब ही सद्गुणों का जन्मदाता है ।

जिस व्यक्ति का आहार सात्विक है और जिसके शारीरिक अंग पर्याप्त रूप से सुदृढ़ हैं, वही पाये हुए आहार से उचित शक्ति उत्पन्न कर सकता है । यदि उत्पन्न की हुई शक्ति को उचित रूप से व्यवहार में लाता रहा, तो शारीरिक ब्रह्मचर्य्य धारण करना कोई कठिन विषय न होगा ।

ब्रह्मचर्य्य वह शक्ति है जो जीवन की प्रत्येक समस्या को सरलता से सुलझा दिया करता है। ईश्वरोपासना में मेधा बुद्धि की जाग्रति के लिए तो ब्रह्मचर्य्य धारण करना सर्वोपरि विषय है। ब्रह्मचर्य्य की शक्ति से सूक्ष्म प्राण ऊर्ध्वरेता हुआ करता है। जबतक सूक्ष्म-प्राण ऊर्ध्वरेता नहीं होता, तबतक न तो मेधाबुद्धि की जाग्रति होती है और न समाधि लगती है। आत्मा का परमात्मा से मेल में ब्रह्मचर्य्य ही मुख्य अंग है। प्रत्येक दृष्टिकोण से ब्रह्मचर्य्य का महत्व सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि है।

ईश्वर-शक्ति में शारीरिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य्य अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य्य की प्राप्ति पर ही हमारा जीवन सदाचार युक्त बना करता है। तत्फलस्वरूप ही हमारी बुद्धि हमें ईश्वरोपासना की ओर प्रेरित करने में सफल हुआ करती है। तत्पश्चात् जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्निरूप धारण कर लिया करता है, उसी प्रकार ईश्वरोपासन से ईश्वर भक्ति भी जीवभाव से आत्मभाव में पहुंच जाया करता है। आत्मभाव में निरन्तर रहना ही ईश्वरोपासना की अन्तिम सीढ़ी है। ईश्वरोपासना से मनुष्य सदाचारी तथा तेजस्वी बन जाता है। ईश्वरोपासना में इसीलिये शारीरिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य्य धारण करना अनिवार्य्य है।

याद रखने की बात

ब्रह्मचर्य्य रक्षा से मेधाबुद्धि की :जाग्रति हुआ करती है। मेधाबुद्धि की प्राप्ति पर गायत्री मन्त्र सिद्ध होता है और गायत्री मन्त्र से ईश्वरोपासना में सफलता मिलती है। ईश्वरोपासना से साधकों का जीवभाव आत्मभाव में पहुंच जाया करता है। फिर यही मोक्ष का कारण बना करता है।

गायत्री मन्त्र की व्याख्या

प्रथम खण्ड—ईश्वर-स्तुति

ओ३म् भूर्भुवः स्वः

व्याख्या

ओ३म् का महत्व

यह—ओ३म्—शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का जन्मदाता है।

प्राणधारियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके मुखारविन्द से वर्णात्मक शब्द निकलते हैं, वरना सब ही प्राणियों के मुँह से ध्वनात्मक शब्द ही प्रकट हुआ करते हैं।

—ओ३म्—शब्द एकही ध्वनात्मक शब्द है, क्योंकि इसे उच्चारण करने के लिए मुँह खोलने पर तीनों अक्षर एक साथ ही निकला करते हैं; इसीलिए इस —ओ३म्— ध्वनि को एकाक्षर अर्थात् अमान्त्रिक कहते हैं; वस्तुतः स्वरूप से तो यह—ओ३म्—द्विमात्रिक दीख पड़ता है।

एकाक्षर कहने से तात्पर्य्य यह है कि यह शब्द—अक्षर—का प्रतीक है। क्षर का अर्थ होता है—नाशवान—और इसके साथ निषेधात्मक प्रत्यय —अ—जुड़ा हुआ है, इसलिए—अक्षर—का अर्थ हुआ—प्रलय होने पर भी

जिसका नाश न हो, किन्तु शेष सब उसी में आमिलें। बस एक ओ३म् ही ऐसा है जिसका नाश नहीं होता–इसलिए यह ही–सत् अर्थात् सच्चा–है। इसी की सहायता से मनुष्य परमगति को प्राप्त कर सकता हैं, इसलिए—ओ३म— ही मानव जीवन का एक मात्र आधार है।

इस एकाक्षर रूप—ब्रह्म–के भी दो रूप होते हैं–(१) सगुण (२) निगु'ण। दोनों की उपासना–विधि एक ही है। सगुण रूप का मूल कारण–निगु'ण–ही है। कोई पदार्थ भी अपने मूल कारण से पृथक नहीं हुआ करता है; इसलिए दोनों मिलकर ही ईश्वर का विजस्वरूप बना करता है, क्योंकि–निर्गुण–अपनी इच्छा शक्ति से ही–सगुण-बना करता है, इस सृष्टि का व्यापक रूप–साकार–बनता है, इसलिए इस सृष्टि का सामूहिक रूप ही–ईश्वर का साकार रूप–है। यह एकाक्षर ब्रह्म द्विमात्रिक रूप में–(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म होता है, किन्तु स्थूल रूप तो–कार्य्य–और सूक्ष्म रूप–कारण–होता है किन्तु दोनों का लक्ष्य रूप–चेतना–ही है और इसी के आश्रित ये दोनों मात्रायें कार्य करती रहती है, किन्तु वह स्वयं–अमात्रिक-ही है।

ओ३म—प्रणव रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मथन करने पर अ, उ म्, के आकार में प्रकट हुआ। यही वेदों का सार भी है, इसी-लिए इसे वेदों का—प्रतिनिधि— भी कहते हैं। विना इसके वेद मन्त्र ऐसे ही शक्तिहीन हैं, जैसे मानव शरीर विना प्राण के। प्राण को भी शक्ति इस —ओ३म—से ही मिला करती है। जिस प्राणी ने—ओ३म—का अध्ययन कर लिया, मानो उसने विश्व की सारी विद्याओं का अध्ययन कर लिया। यह—ओ३म—वेदों का सार ही नहीं, किन्तु रक्षक भी है, इसीलिए इसे परमात्मा का मुख्य नाम कहा है। परमात्मा के अनेकानेक नाम होते हुए भी यह—ओ३म—नाम ही मुख्य हैं, जिसे प्रणव भी कहते हैं।

जीवात्मा के कल्याणार्थ परमात्मा ने मनुष्य को—ज्ञान और प्राण— मातृगर्भ में आते ही देदिये थे। फिर यह ज्ञान तो—कुण्डलिनी शक्ति—के

रूप में मस्तिष्क स्थित सहचार चक्र में आउपस्थित हुआ। इस प्राण शक्ति ने मातृगर्भस्थ काल में प्रकृति से मिलकर—अन्तःकरण--(मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) को जन्म दिया, किन्तु जीव के मातृगर्भ से बाहर आते ही, कुण्डलिनी शक्ति तो स्वयम्भूलिंग से लिपटकर सुषुप्ति अवस्था में पड़ गई और प्राण बाहर आकर और स्थूल रूप धारण करके हृदय में डेरा डाल लिया। मन इन्द्रियों में स्वाभीमन प्राण की सहायता से काम करने लगा। तत्फलस्वरूप जीवात्मा भी उनके चक्कर में पड़ कर अपने लक्ष्य को भूल बैठा।

अर्जुन के यह पूछने पर कि प्राणी मरते समय किसका स्मरण करे कि उसे परम गति प्राप्त हो जाय ?

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

ओ३म् ओ३म् ये जपते-जपते, मुझको करते-करते याद।
सर्वोत्तम गति पा लेते हैं, देह त्याग करने के बाद॥

जो प्राणी वैराग तथा अभ्यास द्वारा अपने मन तथा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अपने हृदयसे एकाक्षर—ओ३म्—का उच्चारण करता हुआ मेरा ध्यान धरता है, वह प्राणी शरीर त्यागने पर परमगतिको प्राप्त हुआ करता है।

मानव जीवनके अन्तिम लक्ष्यपर पहुंचनेकेलिये—ओ३म्—का जाप श्वास-प्रश्वासके साथ मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये कि—ओ३म्—तो उसका धनुष बन जाय; आत्मा—वाण और ब्रह्म निशाना मारनेका लक्ष्य। फिर एकाग्र चित्त होकर, ऐसा निशाना लगाये कि जैसे वाण लक्ष्यके साथ मुक्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी परमात्मासे मुक्त हो जाय। ऐसी स्थितिमें ही हृदयकी ग्रन्थियाँ खुला करती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंके भोग समाप्त हुआ करते हैं।

वस, —ओ३म्—का जाप ही सारे दुःखोंके लिये एक ही महौषधि है, जिसके पीनेसे मनुष्य परम गतिको पा लिया करता है या यों कहिये कि मनुष्य जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। यदि साधक श्वासके साथ २—ओ३म्—

का भी जाप करता रहा, तो एक दिन उसकी कुण्डलिनी शक्ति भी जाग्रत हो जायेगी। कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत होने पर साधकको बहुत-सी—ऋद्धि-सिद्धियाँ—प्राप्त होगी। यदि साधक इन ऋद्धि-सिद्धियोंके प्रलोभनोंमें नहीं पड़ा, तो अवश्य उसे एक दिन आत्म-ज्ञान ही प्राप्त न होगा, किन्तु देह त्याग करने पर वह व्यक्ति परमगतिको प्राप्त हो जायेगा।

ओ३म्—की महिमा अपार है। इसका स्वाद जिसे भी एक बार आ जाता है, वही देह त्यागनेपर जीवनमुक्त अवस्थापर पहुंच जाया करता है। जीवनको सफल बनानेके लिये न तो इससे बढ़कर कोई औषधि है और न ही कोई साधन।

औ३म्—के जाप से शरीर पर होने वाला प्रभाव

(शरीर स्वस्थ और मन स्थिर हो जाता है)

आयुर्वेदिक दृष्टिकोणसे शरीर तीन भागोंमें विभक्त है—(१) वात, पित और कफ—में। नाभिसे नीचेका भाग तो—वात—का है; नाभिसे ऊपरका भाग कण्ठकूपतक—पित्त—का, और कण्ठसे ऊपरका भाग—कफ—का। इन भागोंमें भी विशेष २ कुण्ड हैं, जहाँ - वात, पित्त और कफ—अपने २ कुण्ड में आकर सर्वप्रथम जमा होते रहते हैं। उनके स्थान भी इस प्रकार हैं—गुदाके अन्दर चार अंगुल ऊपर एक कुण्ड है, जहाँ पहले वात आकर जमा होता रहता है। नाभिके समीप दूसरा कुण्ड है, जहाँ पित्त आकर जमा होता रहता है। कण्ठकूपके पास तीसरा कुण्ड है, जहाँ कफ़ आकर जमा होता रहता है। इन कुण्डोंमें—वात, पित्त तथा कफ़—की तीन नाड़ियां हैं जिन्हें यौगिक दृष्टिसे —अ, उ, म्—की नाड़ियां कहते हैं।

आयुर्वेदानुकूल भोजन द्वारा बने हुए रक्तमेंसे जब मांस बनता है, तब—वात, पित्त और कफ़—रूप त्रिदोषका छटाव भी होता है। ये तीनों दोष अपने २ कुण्डोंमें जाकर जमा होते रहते हैं। शरीरकी भी वही दशा है, जो

किसी मकानको। यदि मकानको साफ नहीं किया जाता है, तो वह गन्दा हो जायेगा। इसी प्रकार शरीरमेंसे भी यह त्रिदोष यदि साफ नहीं किया गया, तो यह शरीर भी रोगोंका केन्द्र बन जायेगा। ऐसी दशामें इसे कोई न कोई रोग घेरे ही रहेगा।

ईश्वरने हमारे शरीरकी रचना बड़े ही अद्भुत ढंगसे की है। इसमें स्थूल तथा सूक्ष्म नाड़ियोंका जालसा बिछा हुआ है। स्थूल नाड़ियां तो दुबले-पतले शरीरोंमें स्पष्ट दीख पड़ती हैं; किन्तु सूक्ष्म नाड़ियाँ अदृश्य हैं। ये सूक्ष्म नाड़ियाँ रीढ़की हड्डीके अन्तर्गत सुषुम्ना नाड़ीमेंसे निकलती हैं और वे भी ऐसी हैं, जिनका अन्तिम सिरा किसी भी नाड़ी से सटा हुआ नहीं है। उनमें से तीन नाड़ियाँ—अ, उ, म्—नाम की ऐसी है, कि उनके अन्तिम सिरे—वात, पित्त और कफ के कुण्डों में डूबे हुए हैं। अ नाड़ी तो वात के कुण्ड में, उ पित्त के कुण्ड में और म् कफ के कुण्ड में। तीनों अक्षरों के मेल से बनता है—ओ३म्। जब हम श्वास के साथ—ओ३म्—को खींचते हैं, तब इन तीनों कुण्डों में से—वात, पित्त तथा कफ—को यह—ओ३म्—कन्ठकूप से ऊपर मुंह में पहुंचा देता है।

संस्कृत व्याकरणानुकूल—अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः—और उपूह पद्मानीयानां ओष्ठो—अ—का स्थान है—कण्ठ,—उ और म्—का होठ। ओ३म का उच्चारण करने पर त्रिदोष रूपी शारीरिक मल कन्ठकूप से ऊपर और होठों के अन्दर मुंह में आकर जमा हो जाया करता है, फिर—म्—के उच्चारण के साथ-साथ मुँह भी बन्द हो जाया करता है, फिर इस त्रिदोष को बाहर निकलने का कोई भी मार्ग नहीं मिलता। ईश्वर की विचित्र लीला है कि तालुवे में दो छिद्र ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध हमारी नासिका से है। फिर यह समस्त त्रिदोष नाक द्वारा बाहर निकल जाया करता है।

यदि मनुष्य श्वास-प्रश्वास के साथ—ओ३म्—का भी मानसिक ध्यान धर लिया करे तो—अ, उ, म्—नाड़ियाँ—वात, पित्त और कफ—रूपी कुण्डों से मल को साफ करने में झाड़ू का काम कर डालेंगी। ईश्वर की मनुष्य

पर महती कृपा है कि मनुष्यक को जहाँ मानव शरीर प्रदान किया, वहाँ उसे स्वस्थ रखने के लिए—ओ३म—रूप महौषधि भी प्रदान की। मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण दुःख पाता रहता है और नाना प्रकार की औषधियों के चक्कर में पड़कर, समय और पैसा व्यर्थ गंवाता रहता है। यदि वह नित्य श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ—ओ३म्—का भी मानसिक जाप कर लिया करे, तो एक पंथ दो काम सिद्ध हो जायें। एक तो ईश्वर का यह शरीर रूपी मन्दिर साफ-सुथरा बना रहे, दूसरे स्थूल प्राण को सूक्ष्म- प्राण में बदलने का शीघ्र अवसर प्राप्त होकर श्वास-प्रश्वास द्वारा अनायास ही नाड़ी संशोधन होने पर मेधाबुद्धि का प्राप्त करना बड़ा ही सुलभ हो जाय। यही—ओ३म् का शरीर पर होने वाला प्रभाव है, शरीर को स्वस्थ रखने के लिए, ओ३म् एकमात्र अचूक औषधि है।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा

ओ३म् से ईश्वर के नौ नामों का विस्तृत वर्णन।

यह—ओ३म—अ, उ, म्— से बना है और प्रत्येक अक्षर से परमात्मा के तीन-तीन नाम प्रकट होते हैं—

अ–से—विराट्, अग्नि और विश्व।

उ—से—हिरण्यगर्भ, वायु और तेज।

म्—से—ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा।

यदि—ओ३म्—का श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर मानसिक जाप किया जाय, तो मनुष्य का मन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर जीवभाव से आत्मभाव में पहुंच जाया करता है और मार्ग में ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ करता है। ओ३म् मानव जीवन के लिए महौषधि का कार्य करती है जो उसे सदैव के लिए सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर देती है।

ओ३म्–के अ अक्षर परमात्मा के तीन नामों की व्याख्या

विराट्–अग्नि–विश्व

(शारीरिक वात-सिद्धि)

विराट्

साधक की स्वार्थ रहित पहली अवस्था

मानव शरीर में दो राज्य हैं—(१) स्वभाव राज्य, (२) आत्म राज्य। स्वभाव राज्य की वागडोर-मन–के हाथ में है, जिसका विधान—स्वार्थ–पर आश्रित है। आतमराज्य की वागडोर–आत्मा–के हाथ में है, जिसका विधान –परमार्थ– पर आश्रित है।

अभ्यास काल में–ओ३म्–का जाप करते-करते जब चिन्नाद्वार जो कि स्वभावराज्य और आत्म राज्य के बीच में एक बन्द द्वार है, खुल जाता है, तब साधक का स्थूल-प्राण-सूक्ष्म प्राण में जा मिलता है और स्वार्थ वृत्ति का लोप होकर परमार्थ वृत्ति की जाग्रति हो जाती है। इस अन्तर्मुखी मार्ग का नाम ही-विराट्–है, जो दो शब्दों से बना है–वि+राट्–से। वि–का अर्थ होता है–दूर–और राट् का अर्थ होता है–राज्य। जब दोनों शब्दों को मिलाया तो बना–विराट्–और दोनों के अर्थों को मिलाया, तब बना-स्वभाव राज्य से दूर अर्थात् आत्म राज्य में।

उस महाप्रभु की उपासना करने से साधक को पहिला प्रसाद यह मिला करता है कि वह–स्वार्थ त्यागी–बनकर–परमार्थी–बनने लगता है। अब तक ईश्वर प्रदत्त अपनी शक्तियों का प्रयोग अपने परिचित व्यक्तियों तक ही करता था; किन्तु अब उसको दृष्टिकोण बदलते ही वह अपने ऐश्वर्य (धन, बल और ज्ञान) को अपने परिचित व्यक्तियों के लिये ही नहीं, बल्कि प्राणी मात्र के लिये काम में लाने लगता है, अर्थात् साधक के हृदय की संकोचता अब उदारता का रूप धारण कर लिया करती है। यही साधक की–विराट् अवस्था–है, जो स्वार्थ रहित अवस्था कहलाती है।

अग्नि

साधक की दूसरी ज्ञानमय (विवेकी) अवस्था

ज्ञान=ज् + ञ् + आ + न। अग्नि को ज्ञान से उपमा इसलिये दी है कि अग्नि में जो कुछ पड़ता है, जल जाता है और फिर प्रकाश देता है।

ज् = जायते = उत्पन्न होता है।
ञ् = गन्धाणु = सांसारिक विषय।
आ = आसक्ति = फँसा हुआ।
न = नहीं (निषेधात्मक)

साधक जब सत् और असत् का निर्णय करने लगता है, तब वह भी साँसारिक विषय वासनाओं का त्याग कर देता है। वह अब उन्हें बन्धन का कारण समझता है। इसीलिये उसकी इस अवस्था को ज्ञानमय अथवा विवेकी अवस्था कहते हैं।

साधक का सूक्ष्म-प्राण अग्निरूप धारण करते ही, वह इस अवस्था पर आ पहुंचा करता है कि अब उसका साँसारिक विषयों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। उस निर्विकार महाप्रभु की उपासना करने से साधक को यह दूसरा प्रसाद मिला करता है कि वह विवेकी (सत् और असत् का निर्णय करने वाला) बन जाता है।

विश्व

साधक की तीसरी समदर्शी अवस्था

यदि साधक फिर भी–ओ३म्–का जाप करता रहा; तो साधक का –सूक्ष्म–प्राण–और ऊपर उठकर–विश्वरूप–धारण कर लिया करता है। इस स्थिति में पहुंचकर साधक के भाव इतने उदार बन जाते हैं कि अब उसे –मेरे और तेरे–में अन्तर प्रतीत नहीं हुआ करता है, अर्थात् उसके लिये सब ही समान बन जाया करते हैं। उसके हृदय में अब महाप्रभु की भाँति –विश्व प्रेम–की सद्भावनायें जाग्रत हो आया करती हैं।

अ—अक्षर से उत्पन्न होने वाली विशेषतायें

अ-अक्षर का उच्च रण स्थल तो—कण्ठ—है, किन्तु मूलस्रोत—मूलाधार—है, जो—वात-का केन्द्र है। शरीर तीन भागों में बँटा हुआ है—वात, पित्त और कफ़—में। वात की सिद्धि होते ही साधक—स्वार्थ त्यागी, विवेकी तथा विश्व-प्रेमी-बन जाया करता है, या यों कहिये कि उस महाप्रभु की उपासना करते-करते उसके तीन महत्वपूर्ण गुणों का साधक में भी समावेश हो जाया करता है। उसमें अब स्वार्थ का अभाव, विवेक का विस्तार तथा दृष्टि में सब ही सम.न होते हैं, अर्थात् वह शत्रुओं को भी अपना मित्र समझने लगता है। अब वह समदर्शी बन जाता है। यह है ओ३म् जाप की विशेषता।

उ—से परमात्मा के तीन और नामों की व्याख्या

(हिरण्यगर्भ, वायु और तेज)
(शा.ीरिक-पित्त-सिद्धि)

हिरण्यगर्भ = साधक की प्रकाशयुक्त अवस्था।

(मन, वचन और कर्म से एक हो जाना)

साधक—ओ३म्—का जाप करते-करते जब अपने सूक्ष्म प्राण (वीर्य + वायु) को प्राणायाम की सहायता से **मणिपुर** (सुषुम्नान्तर्गत नाभि चक्र के सम्मुख ले आता है, तब सर्व प्रथम उसका सूक्ष्म प्राण—हिरण्यगर्भ—का रूप धारण कर लिया करता है। हिरण्य गर्भ शब्द बना है—हिरण्य + गर्भ—से जिसमें—हिरण्य—का अर्थ होता है—प्रकाश—और—गर्भ—का अर्थ होता है—अन्दर—। सम्पूर्ण शब्द—हिरण्यगर्भ-का अर्थ हुआ—अन्दर प्रकाश का होना—

जब साधक प्राणायाम की सहायता से अपने सूक्ष्म प्राण को मणिपुर में ले आता है, तब उसकी सभी स्वार्थ वृत्तियां तो जाती रहती हैं और परमार्थ के

भावों की जाग्रति हो आती है और आत्म-भाव का आरम्भ होने लगता है। साधक की इस अवस्था का नाम ही–हिरण्य गर्भ–है, जैसे नदी का जल समुद्र में पड़ते ही समुद्र का जल वन जाता है, ठीक वैसे ही साधक में परमार्थ के भावों की जाग्रति होते ही स्वार्थमय भावों का अन्त हो जाया करता है। साधक अव–मन, वचन और कर्म से एक होता चला आता है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक एक उच्चकोटि का सच्चा परोपकारी वन जाया करता है।

वायु

वहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में समता

(शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास)

साधक–ओ३म्–का जाप करते-करते जव अपने सूक्ष्म प्राण को और ऊपर उठाकर–वायुरूप–धारण कर लिया करता है, तव उसके वहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में समता आ जाया करती है, अर्थात् उसके स्थूल-प्राण की वायु पुष्ट होकर तो उसे नीरोग तथा स्वस्थ वना दिया करती है और उसके सूक्ष्म-प्राण की पुष्टी होकर उसके मानसिक विकारों का ही नाश नहीं हो जाता किन्तु उसकी वुद्धि भी विकसित होने लगती है। उस निर्विकार महाप्रभु की उपासना से अव साधक की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ पूर्णरूपेण काम करने लगती हैं।

तेज=मनुष्यत्व का विकास

(अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति)

वहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में समता आते ही, या यों कहिये कि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास होते ही साधक का स्वार्थ भी परमार्थ वन जाया करता है। ऐसी स्थिति में पहुँचने पर साधक का सूक्ष्म प्राण और ऊपर उठ कर–तेज का रूप–धारण कर लेता है। इस अवस्था में पहुँचने पर

साधक के अन्दर अनेक मानसिक शक्तियों का प्रादुर्भाव ही नहीं हो जाता है, किन्तु उसमें मनुष्यत्व का विकास भी पूर्णरूपेण हो आया करता है। यही समय है जबकि साधक में अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं। इन सिद्धियों से ही साधक–मनुष्य–कहलाने का अधिकारी बना करता है। अब वह व्यक्ति— उदार, गम्भीर और छलकपट से रहित—आदि गुणों से सम्पन्न होकर एक सिद्ध योगी बन जाता है। यही—ओ३म्—जाप की विशेषता है।

उ—अक्षर से उत्पन्न होने वाली साधक में विषशेतायें

(मनुज से मनुष्य बन जाना)

उ–अक्षर का उच्चारण स्थान तो–होठ–है, किन्तु मूलस्रोत–मणिपुर–है, जो पित्त का केन्द्र है। पित्त की सिद्धि होते ही साधक की स्वार्थ वृत्तियों का तो नाश हो जाता है और अब एक सच्चा परोपकारी बन जाया करता है। वह शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं से सम्पन्न मनुष्य कहलाने का अधिकारी बन जाता है। यही—ओ३म्—के जाप की विशेषता है कि वह व्यक्ति मनुज से मनुष्य बन जाता है।

ओ३म् के–म्–अक्षर से परमात्मा के नाम

(ईश्वर आदित्य और प्रज्ञा)

कफ की सिद्धि

ईश्वर (प्रकृति पर विजयी साधक)

सत्यता और माधुर्य्यता का धनी

साधक–ओ३म्–का जाप करते-करते जब अपने सूक्ष्म-प्राण को विशुद्धि चक्र पर पहुँचा देता है, तब वह भी ईश्वर का रूप धारण कर लिया करता है। ईश्वर कहते हैं—धनी—को। अब साधक की प्रकृति पर विजय प्राप्त

हो जाया करती है। यह विशुद्ध चक्र मनुष्य की [सूक्ष्म-नाड़ियों का केन्द्र है। इसका स्थान—कण्ठ—है। यहाँ से जो ध्वनि अक्षराकार में वदल कर वाहर निकला करती है। वह शुद्ध हुआ करती है। उन ध्वनियों से वने हुये अक्षराकार शब्द दूसरों के लिये—वर या शाप—का काम किया करते हैं, किन्तु एक ईश्वर-भक्त कभी भी अपनी शक्तियों का दुष्प्रयोग नहीं करता है। उस निर्विकार महाप्रभु की उपासना करते करते इस स्थिति में पहुँचने पर साधक की वाणी में—सत्यता और मधुरता—आ जाया करती है।

आदित्य=सूर्य्यसम तेजस्वी

(जन साधारण का पथप्रदर्शक)

अव साधक का जीवन-स्तर जन साधारण से वहुत ऊँचा उठ आने के कारण वह सूर्य्य समान वन जाता है, या यों कहिये कि उसमें सूर्य्य के समान तेज (पूर्ण विद्वता : वर्द्धन शक्ति [उदारता] और नियमित जीवन (समय पर कार्य करने) की विशेषतायें जाग्रत हो आती हैं। अव वह एक सच्चा पथ-प्रदर्शक जन साधारण वन जाता है।

प्रज्ञा (मेधा बुद्धि)

जीवन-मुक्त अवस्था

अन्त में उस साधक का सूक्ष्म-प्राण—प्रज्ञा—का रूप धारण कर उसे सदैव के लिये सांसारिक वन्धनों से मुक्त कर दिया करता है। ओ३म् का जाप जिसे—प्रणव जाप—भी कहते हैं, वस्तुतः शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का जन्मदाता है। इस प्रणव की सहायता से साधक—अष्ट सिद्धियों और नौ निधियों—का स्वामी वन जाता है। वह स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, किन्तु भावी सन्तानों के लिये भी एक सच्चे पथ-प्रदर्शक का कार्य करने के

नाते उसका जीवन इतिहास के पन्नों पर स्वर्णमयी अक्षरों में लिखे जाने योग्य वन जाया करता है। ऐसा प्रज्ञा सम्पन्न साधक सदैव के लिये अमर हो जाया करता है।

म्-अक्षर की विशेषतायें

यह—म्—अर्द्धमात्रिक अक्षर है। म्—की सीमा कफ के अन्तर्गत है। कफ़ की सिद्धि होते ही साधक का प्रकृति पर शासन जम जाया करता है। अब यह एक सच्चा जन साधारण का पथ-प्रदर्शक वन जाता है। यह स्वयं तो जीवन-मुक्त अवस्था में पहुँच ही जाता है; किन्तु उसके अनुयायी भी सच्ची शान्ति प्राप्त करने के अधिकारी वन जाते हैं। मनुष्यत्व प्राप्त करने के लिये—ओ३म्—जाप से अधिक कल्याणकारी कोई अन्य जाप नहीं है। यह है—ओ३म-की महिमा। इस—ओ३म्—जाप से मनुष्य भवसागर से पार उतर जाया करता है।

ओ३म् जाप का फल

अणिमादि अष्ट सिद्धियों की [साधक को प्राप्ति

(मनुष्यत्व की [विशेषतायें)

(१) अणिमा सिद्धि-(स्वार्थ रहित व्यवहार)

अणिमा कहते हैं—सूक्ष्म से सूक्ष्म—को। यदि इस संसार में कोई सूक्ष्मतम तत्व है, तो वह है—हमारी आत्मा—। ऐसे साधक को जब अणिमा सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तब उसमें ऐसी शक्ति आ जाया करती है कि वह जब चाहे—आत्म दर्शन—से लाभ उठा सके। ऐसी सिद्धि प्राप्तकर्त्ता साधक अपने व्यवहार में स्वार्थ रहित हुआ करता है और तत्फलस्वरूप उसका जीवभाव सदैव आत्म भाव में ही रहा करता है।

(२) महिमा सिद्धि (हार्दिक उदारता)

महिमा कहते हैं—बड़े से बड़े—को। आत्मा जहाँ सूक्ष्मतम है, वहाँ वह अपने गुणों के कारण—महान्तम—भी है। साधक जब ऐसे गुणों से सम्पन्न हो जाता है कि वह—आत्मवत सर्व भूतेषु—के सिद्धान्त को जीवन में चरितार्थ करने लगता है, तब उसके प्रति यही कहा जाता है कि साधक को—महिमा सिद्धि—प्राप्त हो गयी है। महिमा सिद्धि प्राप्त होते ही साधक उच्चकोटि का उदार चरित्र व्यक्ति बन जाया करता है। इस दशा में उसके प्रत्येक व्यवहार से अब—हार्दिक उदारता—प्रकट होती है।

(३) गरिमा सिद्धि—(विचारों में गम्भीरता)

गरिमा कहते हैं—भारी से भारी—को। आत्मभाव में पहुँचने पर साधक के भाव तथा विचार बड़े ही गम्भीर तथा हृदयग्राही बन जाया करते हैं। साधक जब एसी स्थिति में पहुँच जाता है, तब उसके प्रत्येक विचार में गम्भीरता पाई जाती है। गरिमा सिद्धि—इसी गम्भीरता का नाम है।

(४) लघिमा सिद्धि—(सरल तथा अभिमान रहित स्वभाव)

लघिमा कहते हैं—छोटे से छोटा—अर्थात् सरल तथा अभिमान रहित अवस्था को। जब साधक का स्वभाव ऐसा बन जाय कि उसे अपनी इतनी सुन्दर तथा उच्च अवस्था देखते हुये भी अभिमान न होता हो और इस दशा में भी अपने को सबका सेवक ही समझता रहे, तब यह समझो कि उसे—लघिमा सिद्धि—हो गई है। ऐसे व्यक्ति का दूसरों के साथ व्यवहार सत्य तथा विवेकमय हुआ करता है।

(५) प्राप्ति सिद्धि—(भौतिक तथा आध्यात्मिक विषय में निपुणता)

साधक की यह वह अवस्था है जिसमें वह अपनी इच्छानुकूल सब ही भौतिक पदार्थ प्राप्त कर सके। भौतिक पदार्थ ही नहीं, किन्तु आध्यात्मिक जटिल विषयों का समझ लेना भी उसके लिये सरलतम हो। साधक की इस

स्थिति को ही—प्राप्ति सिद्धि—कहते हैं। एक सिद्ध योगी को ही यह सिद्धि प्राप्त हुआ करती है।

(६) प्राकाम्य सिद्धि—(ममता रहित स्वभाव)

प्राकाम्य कहते हैं–ममता रहित स्वभाव–को। साधक की यह वह अवस्था है, जिसमें उसे किसी भी पदार्थ अथवा विषय की इच्छा नहीं रहा करती है। उसकी सब ही इच्छायें अथवा तृष्णायें पूरी हो चुकती हैं। उस साधक को अब किसी भी पदार्थ में ममता नहीं रहती। यही जीवन-मुक्त अवस्था कहलाती है।

(७) ईशित्व सिद्धि–(वाणी में मधुरता और सत्यता)

जब साधक–ओ३म्–का जाप करते-करते सूक्ष्म प्राण को विशुद्धि चक्र पर पहुँचाने में सफल हो जाता है, जो कि वाणी का केन्द्र है, तब उसकी वाणी में मधुरता और सत्यता आ जाया करती है, अर्थात् उसके शब्द दूसरों के लिये —वर या शाप–का कार्य किया करते हैं, किन्तु ऐसा व्यक्ति किसी को भी शाप नहीं देता। यही–ईशित्व सिद्धि–कहलाती है।

(८) वशित्व सिद्धि—(संयमी जीवन)

जब साधक जीव भाव से आत्म भाव में पहुँच जाता है और निरन्तर आत्मभाव में ही जीवन व्यतीत करने लगता है, तब उसका प्रत्येक कार्य्य ईश्वरीय नियमानुकूल ही हुआ करता है। ऐसा जीवन ही–संयमी जीवन– कहलाता है।

सिद्धियों का सारांश

सच तो यह है कि—ओ३म्—का जाप करते-करते जब साधक अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, तब ही वह–मनुष्य–कहलाने का अधिकारी हुआ करता है। एक प्राणी का मनुष्यत्व ही उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है; इसी लिये वेदों में आया है—मनुर्भव—यदि जीवन को सफल बनाना चाहते हो तो—मनुष्य बनो—।

ओइम् जाप

जप ले ओइम् नाम सुखधाम, तरणी पार लगाने वाला।
जिसने जपा ईशका नाम, सो जन पहुँचा उसके धाम।
चाहे धर्म, अर्थ अरु काम, मोक्ष की पदवी पाने वाला।
आया मनुज जन्म यहां पाय, देगा योंहि इसे गवाय।
ख्यालकर फिर पीछे पछताय, जिस दिन पड़े काल से पाला।
यही है संकट मोचन हार, लगावे वेड़ा भव से पार।
करता शोक मोह संहार, प्रेम की राह वताने वाला।

गायत्री मन्त्र में—ओ३म्—के पश्चात्

भूर्भुवः स्वः (भूः, भुवः; स्वः)

आता है।

भूः, भुवः, स्वः—तीनों ही महा व्याहृतियां हैं, जो-ओ३म्-की विशेषताओं को प्रकट करती हैं। ये शब्द गायत्री मन्त्र से पृथक होते हुये भी, इनका गायत्री मन्त्र के साथ ही प्रयोग किया जाता है। इनके अनेक अर्थ होते हुये भी यहाँ कतिपय आवश्यक अर्थं दिखाये जा रहे हैं—

शब्द	पारलौकिक दृष्टिकोण से अर्थ	लौकिक दृष्टि-कोण से अर्थ	शारीरिक दृष्टिकोण से अर्थ	स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अर्थ
भूः	सत्	पृथ्वी	उदर	अन्नमय कोष
भुवः	चित्त	अन्तरिक्ष	हृदय	प्राणमय कोष
स्वः	आनन्द	द्युः	मस्तिष्क	मनोमय कोष

ओ३म्—परमात्मा का सर्वोपरि मुख्य नाम है, जिसका जाप—मुक्ति प्रदाता—है। वह —ओ३म्—कैसा है? वह—ओ३म्—स्वास्थ्य प्रदाता है। इसके जाप से – स्थूल प्राण और सूक्ष्म प्राण –दोनों ही पुष्ट होकर शारीरिक अवयवों को कार्य करने की शक्ति मिला करती है। ये दोनो बातें स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य भी हैं। बिना औषधियों के जब हमारा शरीर स्वस्थ रह सकता है तब इसके सुन्दर बात और क्या हो सकती है?

[ओ३म्—की सहायता से]

फिर भी मनुष्य यदि उस महाप्रभु का सहारा न ले, तो इससे अधिक अज्ञानता उसके लिये और क्या होगी?

वह महाप्रभु तीनों लोकों का स्वामी है। सारे का सारा प्रबन्ध उसी के हाथ में है। संसार के समस्त पदार्थों पर उसका अपना अधिकार है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न करता रहता है;

किन्तु वह यह नहीं समझता कि इनके स्वामी को प्रसन्न किये बिना, मैं उसकी चीजों से लाभ उठाने का अधिकारी कैसे बन सकता हूँ?

उस महाप्रभु से नाता जोड़ने का केवल एक ही मार्ग है और वह है—ओ३म् जाप—फिर मनुष्य की कितनी भारी भूल है कि उस महाप्रभु से नाता तो जोड़ता नहीं, और उसकी चीजों का भोग करना चाहता है; यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिये लोग दुःख भोगते रहते हैं और साथ ही निराशा पर उसे कोसते रहते हैं। वह महाप्रभु सच्चिदानन्द है। उसका जाप करने वाला उसका भक्त लौकिक सुख ही नहीं, किन्तु पारलौकिक सुख का अधिकारी बन जाया करता है। लौकिक तथा पारलौकिक सुख सब ही उसके अधिकार में है। एक बार उससे सच्चा नाता जोड़ लीजिये, फिर जीवन तो सुख मय बन ही जायेगा, किन्तु भावी जीवन की भूमिका भी अच्छी बन सकेगी; य

यों कहिए कि उसका जन्म किसी ऐश्वर्य सम्पन्न कुल में होगा। यदि आयु पर्यान्त अर्थात् प्राणान्त तक उस महाप्रभु की चिन्तन बिना विघ्न बाधाओं के चलता रहा, तो प्राणान्त पर मुक्तात्माओं में सम्मिलित होने का सौभाग्य भी प्राप्त हो जायेगा। कितना सुन्दर यह—ओ३म्—है। जिसके गुण तो असीमित और अनन्त हैं ही। मनुष्य यदि अपना कल्याण चाहता हैं, तो उस महाप्रभु से नाता जोड़ ले। इसी में जीवन सफल भी है।

गायत्री मन्त्र के प्रथम खण्ड

[ओ३म् भूर्भुवः स्वः का सारांश]

(यह ईश्वर-स्तुति है)

ईश्वर के गुण-गान करना

ओ३म्—का स्थल शरीरान्तर्गत मस्तिष्क के सर्वोपरि स्थल सहस्रार चक्र के ब्रह्मरन्ध्र में है। ओ३म्—'ज्ञान स्वरूप' है। सद्भावना ही इस ज्ञान स्वरूप तक पहुँचने का साधन है। सद्भावना बना करती है—उच्च दृष्टि-कोण, हार्दिक लग्न, अटूट श्रद्धा और अथक परिश्रम—से।

ओ३म्-भूर्भुवः स्वः—में परमात्म-दर्शन की विधि का वर्णन भी किया गया है। वह परमात्मा कैसा है? उत्तर–सच्चिदानन्द। कहाँ दर्शन होंगे? उत्तर–पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्योलोक में या यों कहिये— सर्वत्र—कैसे दर्शन होंगे? सात्विक जीवन व्यतीत करते हुये उस परब्रह्म का निरन्तर सद्भावना के साथ चिन्तन करने से।

उस सच्चिदानन्द के एक बार दर्शन होते ही साधक जीवन-मुक्त अवस्था में पहुँच जाया करता है, या यों कहिए कि उस महाप्रभु की उपासना करने का अधिकारी बन जाता है, जैसे—लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि रूप धारण

कर लेता है, वैसे ही साधक को परमात्म-दर्शन होते ही वह तीनों तापों से मुक्त होकर सच्चा आनन्द अनुभव करने लगा करता है। सच कहा है—

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मग्न, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
परमात्मा को जब आत्मा में, लिया देख ज्ञान की आँखों से।
पार हुआ भवसागर से, अब कोई क्लेश लगा न रहा॥

ईश्वर के गुण गान करने से यही लाभ है। यही गायत्री मन्त्र के प्रथम-खण्ड—ओ३म् भुर्भुवः स्वः—का सारांश भी है।

गायत्री मन्त्र के द्वितीय खण्ड

तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि

ईश्वरोपासना (ईश्वर-पूजा)

उपासना शब्द बना है—उप+आसन से । उप का अर्थ होता है—समीप और आसन का अर्थ होता है—बैठना; इसलिये उपासना का अर्थ हुआ—सपीप बैठना अर्थात् सत्संग करना ।

सत्संग किये जाने योग्य महापुरुष

(१) महापुरुष	(२) देवगण	(३) परमात्मा
इनका सत्संग उनके पास बैठने, रहने तथा उनके उपदेश सुनने तथा तदनुकूल आचरण करने से हुआ करता है । यही उनसे लाभ उठाने की रीति भी है । ऐसा करने से	ये देवगण मुक्तात्मायें हैं । उनकी जीवनी का अध्ययन कर तथा तदनुकूल चलना ही उनका सत्संग करना है यही उनकी उपासना है । ऐसा करने से मनुष्य के जीवन का उत्थान ही नहीं, किन्तु भगवत्भक्ति की ओर	ईश्वर निराकार है; अतः उनकी उपासना उसके नियमानुसार चलने तथा उसको यह मानकर कि वह—सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी—है अपने दैनिक व्यावहारिक जीवन में इसका प्रयोग करें । ऐसा करने से मनुष्य

मनुष्य में सदाचार की भावनायें उत्पन्न हुआ करती हैं।	उनकी रुचि उत्पन्न हो उनके भाव ईश्वर-भक्ति में आ जाते हैं।	पापों से दूर रह सकता है और जल्दी ही आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी और दूसरों का विश्वास पात्र बन जाया करता है। यही ईश्वर उपासना है।

जीवभाव से आत्मभाव में आने के लिये केवल उस सर्व शक्तिमान ईश्वर की ही उपासना करनी चाहिये, ताकि अपने जीवन में ही मनुष्य—जीवन-मुक्त-अवस्था को प्राप्त हो जावे और फिर प्राणान्त पर परमपद प्राप्ति का अधिकारी बन जाय ताकि जीवन-मरण से छुटकारा पाकर मुक्तात्माओं में निवास करने लगे। यही—वेदवाणी—भी है।

सवितुः

परमपिता परमात्मा ही जगत-पालन हारा है

मनुष्य एक सामाजिक जन्तु है। वह अपनी जीवन यात्रा में अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये किसी न किसी को अपना साथी बना लिया करता है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसका वह साथी उसकी आवश्यकता को पूरा कर दे। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि उसकी आवश्यकता इतनी बढ़ी हुई हो कि उसका वह साथी उसे पूरी करने में असमर्थ हो। तत्फल स्वरूप उसे कोई और साथी बनाना पड़ता है। सम्भव है कि उसका वह नया साथी भी उसकी सहायता करने में असमर्थ हो। यदि इसी प्रकार उसे नये-नये साथियों की खोज करनी पड़ी, तो किसी दिन उसे एक ऐसा साथी भी मिल जायेगा, जो सबसे धनवान है, सबसे बलवान और सबसे विद्वान। यदि कोई ऐसा मित्र मिलजाय, जिसमें तीनों ही विशेषतायें विद्यमान हैं और उसकी प्रत्येक आवश्यकता को पूरा कर सकता है, तो बुद्धि उसे—पुरुष विशेष—के नाम से पुकारती है और शास्त्र उसे ही—**ईश्वर**—संज्ञा देते हैं।

ईश्वर को ही—सवितुः—कहते हैं, क्योंकि—जगत् उत्पत्ति, जगत का पालन तथा जगत का प्रबन्ध—सब कुछ उसी के हाथ में है। वह ईश्वर ही सबसे धनवान, सबसे बलवान् और सबसे विद्वान है।

तत्सवितुर्वरेण्यम्

फिर ऐसे दिव्य गुणों से सम्पन्न ईश्वर की ही उपासना आरम्भ से ही क्यों न की जाय? ताकि साथियों को बारम्बार परिवर्तन करने की आवश्यकता

ही न पड़े। संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं—कोई धन चाहता है, तो कोई वल, और कोई बुद्धि। मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण इधर-उधर भटकता फिरता है। जव एक ही परमात्मा मनुष्य का ऐसा साथी वन सकता है, जिसके पास सव ही प्रकार के पदार्थों का अतुल भण्डार है, फिर उसी की उपासना क्यों न की जाय? किन्तु उपासना करने की विधि भी तो समझ में आ जाय।

मनुष्य हर समय कोई न कोई कार्य तो करता ही रहता है। यदि वह उसे सद्भावना के साथ धर्मानुकूल सम्पादित करने का अभ्यासी वन जाय, और कार्य्य करते समय यह भी समझ ले कि ईश्वर सर्वव्यापी है, शक्तिशाली है और न्यायकारी भी है; या यों कहिये कि वह उसके भले और बुरे सवही कार्यों को देख रहा है और न्याय व्यवस्था भी उसके हांथों में है; इसलिए उसे अपने शुभाशुभ कार्यों का फल भी भोगना ही पड़ेगा। वह परमात्मा इतना शक्तिशाली है कि कोई व्यक्ति भी अपने किये हुये कर्मों के भोग से वच नहीं सकता। ईश्वर सर्वव्यापी है, शक्तिशाली है और न्यायकारी—भी है। उन वातों को ध्यान में रखता हुआ, जोभी व्यक्ति अपने कार्य्य सम्पादन करता रहता है, वह उतना ही—ईश्वर की सहायता—का अधिकारी वन जाया करता है। ईश्वरोपासना में एक वात और भी ध्यान में रखने की है और वह यह है—

भर्गो देवस्य धीमहि

(दिव्य गुणों से युक्त परमात्मा का हम ध्यान धरते हैं।)

मेल वा मित्रता सदैव दो समान गुणवालों में ही वन सकती है। महाप्रभु तेजस्वी तथा निर्विकार है। मनुष्य को निर्विकार वनने के लिये पहले-स्वार्थ-का त्याग करना ही पड़ता है और तेजस्वी वनने के लिये शारीरिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य धारण करना अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य्य वल की प्राप्ति पर

हमारा जीवन सदाचार युक्त बना करता है; तत्फलस्वरूप ही हमारी बुद्धि ईश्वरोपासना की ओर हमारे मन को प्रेरित करने में सफल हो सकती है। तत्पश्चात् जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि रूप धारण कर लिया करता है, उसी प्रकार ईश्वरोपासना से ईश्वर भक्त भी जीवभाव से आत्मभाव में पहुंच जाया करता है। आत्म-भाव में निरन्तर रहना ही ईश्वरोपासना कहलाती है। एक सच्चा ईश्वर-भक्त ही भावी कुसंस्कारों से बच सकता है। ईश्वरोपासना से साधक को सबसे बड़ा लाभ यही है कि वह आन्तरिक सदाचारी और तेजस्वी बन जाया करता है।

ईश्वर भक्ति के लिये दो आवश्यक बातें

(१) ब्रह्मचर्य्य; (२) प्राणायाम

प्राणायाम से ब्रह्मचर्य्य धारण होता है। ब्रह्मचर्य्य से
जीवभाव आत्म भाव में पहुंचता है। यही
योगाभ्यास है अर्थात् जीवात्मा का
परमात्मा से मेल; इसलिये
ईश्वर भक्ति में प्राणायाम
एक आधार शिला
है।

प्राणायाम का महत्व

(आत्मभाव में पहुंचने के लिए प्राणायाम ही साधक है।)

प्राणायामवना है—प्राण + आयाम—से। प्राण कहते हैं—'मन तथा इन्द्रियों में काम करने वाली शक्ति'—को, और आयाम कहते हैं—वश में करने को—। प्राणायाम का अर्थ हुआ—मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना या यों कहिये कि मन और इन्द्रियाँ कोई ऐसा काम न कर डालें, जिससे मनुष्य को अपने जीवन में आत्मभाव तक पहुंचने में अड़चन हो।

प्राण दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म—स्थूल प्राण वनता है—रक्त + वायु से—और सूक्ष्म प्राण वनता है—वीर्य्य + वायु—से। स्थूल प्राण और सूक्ष्म प्राण के दो-दो कार्य्य होते हैं—

स्थूल प्राण के कार्य्य	सूक्ष्म प्राण के कार्य्य
१—रक्त, माँस, मज्जा, हड्डी और वीर्य्य वनाना।	१—शारीरिक अंगों में शक्ति उत्पन्न कर उन्हें कार्य्य करने के योग्य वनाना;
२—काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि का उत्पन्न करना, जिसके सामूहिक रूप का नाम है—स्वार्थ—मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत हुआ —ईश्वर प्रदत्त ऐश्वर्य्य— (धन, वल तथा बुद्धि का) केवल	२—अष्टसिद्धियों की जाग्रतिकर मन में मनुष्यत्व के भाव जाग्रत करना, जिनका सामूहिक नाम है—परमार्थ—जव मनुष्य पर परमार्थ का प्रभाव जम जाता है, तव फिर वह—ईश्वर प्रदत्त ऐश्वर्य्य—को अपने तथा

अपने तथा अपने परिचित व्यक्तियों तक ही काम में लाया करता है। यही हृदय की संकोचता—है।

देश के लिये प्रयोग में लाया करता है। यह है हृदय की उदारता। उदारता आने पर ही मनुष्य का जीव-भाव आत्मभाव में आया करता है।

मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति प्राणायाम पर निर्भर है। शारीरिक उन्नति तो—स्थूल-प्राण—पर। स्थूल प्राण पर साधक का अधिकार होते ही उसका शरीर सुडोल बनकर उसके अवयवों में काम करने की शक्ति आ जाती है फिर वह आयु पर्य्यन्त नवयुवक की भांति काम करने लगता है।

मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति प्राणायाम पर निर्भर है। शारीरिक उन्नति तो—स्थूल-प्राण—पर आश्रित हैं। स्थूल-प्राण पर साधक का अधिकार होते ही,उसका शरीर सुडोल बनकर उसके अवयवों में काम करने की शक्ति आ जाया करती है, फिर वह आयुपर्यन्त नवयुवक की भान्ति ही कार्य करता रहता है।

मनुष्य की मानसिक उन्नति सूक्ष्म-प्राण पर आश्रित है। सूक्ष्म-प्राण पर साधक का अधिकार होते ही उसकी मानसिक वृत्तियों में परिवर्तन आ जाया करता है। उसके हृदय से संकोचता जाती रहती है और उदारता आ जाया करती हैं। फिर उसके सभी कार्य्य निष्काम भाव की सीमा के अन्तर्गत आ जाया करते हैं।

प्राणायाम में सिद्धि उसी दशा में सम्भव है, जबकि मनुष्य के स्वार्थमय भाव, परमार्थ के भावों में बदल जायें, या यों कहिए कि जब साधक के हृदय से संकोचता तो जाती रहे और उदारता अपना प्रभाव जमा ले। साधक इस उदारता को भी सद्भावनाओं के साथ प्रयोग में लाने लगे। तब ही उसका ध्यान परमात्म चिन्तन की ओर हुआ करता है। यही ईश्वरोपासना में प्राणायाम का सहायक होना है, या यों कहिये कि प्राणायाम और ईश्वरोपासना एक दूसरे के पूरक हैं।

व्यावहारिक जीवन में प्राणायाम की एक विशेष शैली का प्रयोग

(जीवन को उच्चतम लाने की क्रिया)

प्राणायाम मन्त्र
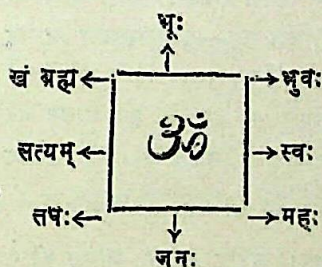
उपरोक्त प्राणायाम मन्त्र के निम्न प्रकार जोड़े बना लीजिए

१–ओ३म् भूः, ओ३म् जनः। २–ओ३म्, भुवः ओ३म् तपः।
३–ओ३म् स्वः, ओ३म् सत्यम्। ४-ओ३म् महः, ओ३म् खं ब्रह्म।

सार्थक जीवन की प्रथम अवस्था

ब्रह्मचर्य्य

ओ३म् भूः, ओ३म् जनः ।

भूः—कहते हैं—सत्—को। सत् प्रतीक है—ईश्वर सत्ता—का, जिसका प्रकृति विकृत रूप है और यह सत्ता समस्त विश्व में समाई हुई है। फिर इसी प्रकृति से समस्त विश्व की रचना हुई है। तत्फलस्वरूप हमें भी यह मानव शरीर धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

ओ३म् जनः

जनः—कहते हैं— जनन शक्ति को, और जनन शक्ति प्रतीक है—ईश्वरीय संचालन शक्ति का—तत्फलस्वरूप हमारे मानव शरीर में भी उस जनन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। जनन शक्ति का ही पर्य्यायवाची शब्द है—ब्रह्मचर्य्य—जब महाप्रभु की दया से हमें मानव शरीर मिला और उसमें जनन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, तब हमारा भी कर्त्तव्य हो जाता है कि उस जनन शक्ति अर्थात् ब्रह्मचर्य्य की रक्षा करके शारीरिक अवयवों का इस प्रकार संचालन करें कि हमारा शरीर हमारे जीवन की सफलता का साधन बन जाय।

कहने का आशय यह है कि हमें सौभाग्य से मानव शरीर मिला है और इसकी जीवन लीला का प्रारम्भिक काल ही—ब्रह्मचर्य्य रक्षा—का हुआ करता है, ताकि शेष जीवन में हमारा मन और शरीर दोनों ही स्वस्थ रहें, किन्तु ऐसा जीवन बनाने के लिये आवश्यक है—ज्ञान और विज्ञान—में निपुण होने की, इसीलिये कहा है—

ज्ञानोपार्जन के लिये विद्यार्थी जीवन

ओ३म् भुवः, ओ३म् तपः

भुवः--कहते--चित्त—को, और चित्त प्रतीक है—ज्ञान--का । मानव जीवन सर्व प्रथम--ब्रह्मचर्य्य जीवन- से ही आरम्भ होता है, जिसमें ज्ञान तथा विज्ञान--में निपुण होना ही मुख्य धर्म है, इसीलिये यहाँ ईश्वरीय आदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनकर विद्या प्राप्ति के लिये जुट जाना चाहिये, ताकि शेष जीवन सरल तथा सुखमय बनजाय; किन्तु यह अनुभव सिद्ध बात है कि विद्या प्राप्ति में बड़े २ कष्ट उठाने पड़ा करते हैं; इसी लिये कहा है—ओ३म् तपः--तप कहतेहैं–परिश्रम—को। सच है—विद्यार्थिनः कुतः सुखम् तथा सुखार्थिनः कुतो विद्या–आलसी व्यक्ति को विद्या प्राप्त नहीं हुआ करती है! हमारा विद्यार्थी जीवन चाहे कितनी ही कठिनाइयों से लदारहे, हमें कभी भी साहस तोड़ना नहीं चाहिये। निरन्तर परिश्रम में ही विद्या प्राप्ति का रहस्य निहित है। कहने का आशय यह है कि हमें ब्रह्मचर्य्य से रहकर—ज्ञान तथा विज्ञान—प्राप्त करने में जुटा रहना चाहिये, ताकि जीवन में आगन्तुक समस्यायें सरलता पूर्वक सुलझ सकें, इसीलिये कहा है—

ओ३म् स्वः, ओ३म् सत्यम्

ब्रह्मचर्य्य अवस्था के पश्चात् गृहस्थाश्रम

(जीवन की वास्तविक अवस्था)

स्वः--कहते हैं--आनन्द--को। एक ब्रह्मचारी ज्ञान और विज्ञान में निपुण होकर जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, तब उसके सामने भौतिक, राजनैतिक तथा सामाजिक समस्यायें आ उपस्थित होती हैं। यदि वह ज्ञान और विज्ञान में निपुण है, तो वह अपनी समस्त समस्याओं को सुलझाने में सफल हो जाया करता है और अपने ज्ञान के द्वारा लौकिक जीवन को पारलौकिक जीवन का साधन बनाने में भी पीछे नहीं रहता।

ओ३म् सत्यम्--सत्यम् कहते हैं--सचाई-- को। वह परमात्मा सत्य-स्वरूप है। उसकी महती कृपा से जब साधक को लौकिक जीवन पारलौकिक बन चुकता है, तब इसका प्रत्येक कार्य्य तथा व्यवहार सत्यता को लिये हुये रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने व्यवहार के--मन वचन तथा कर्म--से समान होने के कारण सत्यस्वरूप ही बन जाया करता है। कहने का आशय यह है कि जिस व्यक्ति ने बुद्धि से काम लिया है, वह जीवन सफल हो जाया करता है। गृहस्थ जीवन में—ज्ञान और विज्ञान—ही साधन पथ पदर्शक हुआ करते हैं। फिर इसी जीवन में उसका जीवभाव आत्मभाव में परिवर्तित होना आरम्भ हो जाता है और यहीं से—वानप्रस्थ आश्रम—का आरम्भ भी है। राजा जनक जैसे महापुरुषों का जीवन हमारे सामने इस बात का प्रज्ज्वलित उदाहरण भी है। ऐसे व्यक्ति ही लौकिक तथा पारलौकिक सुखके अधि-

कारी बन जाया करते हैं। वस्तुतः गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही वान प्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम के लिये क्षेत्र तय्यार हुआ करता है; इसी लिये आगे कहा है—

ओ३म् महः, ओ३म् खं ब्रह्म ।

(संन्यास आश्रम जीवन की अन्तिम अवस्था है।)

महः—कहते हैं—महान्—को। वह महाप्रभु सबसे महान् है। जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि रूप धारण कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा के सम्पर्क में आकर आत्मभाव में बदल जाया करता है, या यों कहिये कि मनुष्य अब उच्च कोटि का उदार तथा दूसरों के द्वारा भी आदरणीय बनजाया करता है। फिर भावी आगन्तुक सन्तानें उनके पद चिन्हों पर चलकर अपने जीवन की बिखरी हुई असुविधाओं को दूर करने में सफल हो जाया करता है।

ओ३म् खं ब्रह्म—वह महाप्रभु परमात्मा अपनी महानता के कारण विश्व पर अधिकार जमाये हुये हैं। ऐसे ही साधक भी आत्मभाव मे पहुंचकर मन, वचन तथा कर्म—से एक हो जाने के कारण उसका प्रकृति पर अधिकार जम जाया करता है; या यों कहिये कि अब उसका व्यवहार भी ईश्वरीय विधानानुकूल ही हुआ करता है; इसलिये उसके सभी कार्य्य ईश्वर की प्रेरणानुकूल सम्पादित हुआ करते हैं। फिर ऐसा साधक प्राणान्त पर मुक्तात्माओं में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया करता है। यह है प्राणायाम की व्यावहारिक रीति तथा उसका मानव जीवन पर प्रभाव।

प्राणायाम और ईश्वरोपासना एक दूसरे के पूरक हैं।

(प्राणायाम का महत्त्व)

ईश्वर की महती कृपा से हमें मानव शरीर मिला है और साथ-साथ में पालन करने के लिये ब्रह्मचर्य्य (ब्रह्म-शक्ति) भी मिली है अब अपना भी

कर्त्तव्य है कि इस ब्रह्मचर्य की रक्षा करके विद्या प्राप्ति में जुट जायें और ज्ञान तथा विज्ञान—में निपुण होकर गृहस्थ जीवन की समस्याओं को सुलझा सकें। हां इतना अवश्य है कि विद्या प्राप्ति के समय आलस्य को त्यागकर दृढ़ता के साथ सतत् परिश्रम किया जाय, ताकि तत्पश्चात् गृहस्थ जीवन भी सुखमय बन सके। ऐसी स्थिति में उसका लौकिक जीवन ही एक दिन पारलौकिक जीवन का साधन बने। जब जीवभाव आत्मभाव में पहुंच जाता है, तब उसके सभी मानसिक विकार नष्ट हो जाया करते हैं। ऐसा व्यक्ति प्राणान्तपर परमगति को प्राप्त हुआ करता है; इसीलिये प्राणायाम मनुष्य के लिये जीवन यापनकी एक अलौकिक शैली है। यदि यह कहा जाय कि परमपद प्राप्ति के लिये एक विधि है और ईश्वरोपासना का एक साधन है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी; इसीलिये प्राणायाम और ईश्वरोपासना एक दूसरे के पूरक हैं।

— (:o:) —

मानव जीवन के दो मार्ग

(योनियों के चक्कर में पड़ना या जीवन-मरण से मुक्त होना।)

मनुष्य पर ईश्वर की दया

संसार की समस्त योनियों में मनुष्य ही एक ऐसी योनि है, जिसे ईश्वर ने बुद्धि दी है, ताकि वह अपनी इन्द्रियों से उचितानुचित का विचार करके कार्य्य सम्पादन कर सके। साथ ही साथ उसे अपने जीवन में अपनी इच्छानुकूल कार्य्य करने की स्वतन्त्रता भी दी है। अब मनुष्य के अपने हाथ में है कि वह अपने जीवन को सत्कर्मों द्वारा ऊँचे से ऊँचा उठा ले या कुकर्मों तथा अकर्मों द्वारा नीचे से नीचा गिराले; या यों कहिये कि सद्भावनाओं के साथ योगाभ्यास द्वारा परमात्मा की उपासना में जीवन व्यतीत कर शरीरान्त पर मुक्तात्माओं में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त करलें, ताकि जीवन-मरण से मुक्त हो जाय; या पुनः योनियों के चक्कर में पड़ जाय। अच्छा यही है कि गायत्री माता की शरण लेकर अपना जीवन सफल बनाले। इसी में मानव जीवन प्राप्त करने की विशेषता है।

गायत्री मन्त्र का तृतीय खण्ड

(मेधा बुद्धि के लिये नम्र निवेदन)

ईश्वर से साधक की विनय

धियो योनः प्रचोदयात्

साधारण अर्थ

हे प्रभो ! आप हम पर इतनी दया और कीजिये कि आप हमें वह शक्ति प्रदान करें, जिसकी सहायता से हमारी बुद्धि कभी भी सत्यपथ विचलित न हो और सदैव आपके चिन्तन करने में ही प्रयत्नशील बनी रहे।

ईश्वर से प्रार्थना

हे विभो ! आनन्द सिन्धो ! मे च मेधा दीयताम् ।
यच्च दुरितं दीनबन्धो ! तच्च दूर नीयताम् ॥१॥

सञ्चलानि चेन्द्रियाणि मानसं मे पूयताम् ।
शरणयाचे तावकीनं सेवकः अनुगृस्यताम् ॥२॥

त्वयि च वीर्य्यं विद्यते यत् तच्च मयि निधियताम् ।
या च दुर्गुण दीनता मयि सातु शीघ्रं क्षीयताम् ॥३॥

शौर्यं धैर्य्यं तेजसं च भारते चेक्रीयताम् ।
हे दयामय ! अयि अनादे ! प्रार्थना मय श्रूयताम् ॥४॥

मेधा बुद्धि-प्राप्ति की विधि

इसके लिये —गायत्री मन्त्र जाप—ही सर्व श्रेष्ठ तथा सरलतम मार्ग है, किन्तु वह किया जाय सद्भावना साथ। ईश्वर जहाँ दयालु है वहाँ न्यायकारी भी है। उसके हाथों, सबको, उनके कर्मानुसार ही भोग भोगने पड़ा करते हैं। मेधा बुद्धि की प्राप्ति के लिये सद्भावना से उसकी उपासना कीजिये; उसके भण्डार में कमी काहु की नाहिं; फिर अवश्य इच्छा पूर्ण होगी।

यह मेधा बुद्धि मनुष्य में उस समय उत्पन्न हुआ करती है, जबकि वह अपने मन को सांसारिक विषयों से हटाकर आत्म राज्य की सीमान्तर्गत लेजाकर उस महाप्रभु की शरण में पहुंचा दे। मेधाबुद्धि का प्रादुर्भाव ईश्वर भक्ति में ही निहित है।

जब साधक एक बार भी—आत्म-भावके आनन्द को—अनुभव कर लेता है, तब वह सदैव इसी भाव में रहने की इच्छा किया करता है। आत्म-भाव में पड़ाव डालना केवल मेधा बुद्धि की सहायता से ही सम्भव है; इसलिये साधक ईश्वर से---मेधाबुद्धि—के लिये ही प्रार्थना किया करता है और यही उसकी प्रार्थना का विषय भी होता है; बस, यही साधक की ईश्वर प्रार्थना भी है।

ईश्वर से विनय

दुख विनाशक, सुखके दाता, सबके पालनहार !
शरण गहूं प्रभु जाय कहाँ मैं, कोउ न पूछनहार ॥१॥

तेरा ही मन्त्र जपूं निशदिन सारे, चरणन में सिर डार।
परम कृपाकर दुखिया मुझ,को अब तो लीजे उभार ॥२॥

कर स्वीकार चरणों में मेरा, भक्तिभरा उपहार।
दयाकरो प्रभु दीन हूं मैं, तव द्वारे रहा हूं पुकार ॥३॥

गायत्री मन्त्र का मनुष्य पर प्रभाव

(स्तुति, उपासना और प्रार्थना के रूप में)

जब मनुष्य जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर देख लेता है और उस परमात्मा के गुणों का उसके हृदय पट पर प्रभाव जम जाता है, तब वह मनुष्य निरन्तर परमात्मा के ही गुणगान करने में जुटजाया करता है। फिर उसे सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा दीखा करता है; इसे ही सच्ची—ईश्वर-स्तुति—कहते हैं।

अब वह प्राणी ऐसे साधन जुटालिया करता है कि उसका जीवभाव, आत्मभाव में ही स्थिर होजाय, यही—ईश्वर-उपासना—है। इस आत्मभाव के आनन्द में इतना मस्त हो जाता है कि उसको इस अवस्था के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसकी यह भावना भी दृढ़ होती चली आती है कि मैं आजीवन इसी आत्मभाव में रहकर उस महाप्रभु सच्चिदानन्द की उपासना करता रहूं; इसी लिये करबद्ध होकर वह ईश्वर से—नम्र निवेदन—करता है कि हे प्रभो! मुझे आप वह सद् बुद्धि (मेधाबुद्धि) प्रदान कीजिये जिससे मेरा यह जीवभाव आत्म-भाव में प्राणान्ततक बना ही रहे और इसी आत्मभाव में रहते हुये शरीर त्याग करने का सौभाग्य भी प्राप्त हो, ताकि मैंने जिस उद्देश्य-पूर्ति के लिये यह मानव शरीर पाया है, वह आपकी दया से पूरा हो जाय और प्राणान्तपर मुक्तात्माओं में सम्मिलित होने का अधिकारी बन सकूं। बस, साधक के लिये यही—ईश्वर-प्रार्थना—है।

गायत्री मन्त्र पर शंका-समाधान के रूप में

(गुरु-शिष्य सम्वाद)

शिष्य—गुरुजी ! नमस्ते !

गुरु—बच्चे ! आयुष्मान भव । कहिए-कैसे आना हुआ ?

शिष्य—गुरुजी ! आज मुझे आप से कुछ उपदेश लेना है । क्या कुछ समय देने की कृपा करेंगे ?.

गुरु—बच्चे ! तेरे लिये समय भी कहीं से लाना है क्या ? वह तो अपनी चीज है । जितना चाहो, लो ।

शिष्य—गुरुजी ! आपकी मेरे ऊपर सदैव महती कृपा रही है । आप ही मेरी शंकाओं का निवारण किया करते हैं । आशा है कि आज भी मेरी शंकाओं को दूर करने की कृपा करेंगे ।

गुरु—बच्चे । बोलो । हिचकिचाते क्यों हो ? अपने प्रश्न रखो ।

शिष्य—गुरु जी ! यह बतलाइये, "क्या ईश्वर नाम का कोई अस्तित्व है ?"

गुरु—बच्चे ! जहाँ कार्य्य है, वहाँ कारण भी है । घड़े को देखकर ही यह विचार हुआ करता है कि इसका बनाने वाला अवश्य कोई

है। जो जानते हैं, वे तुरन्त बता देते हैं कि इसका बनाने वाला —कुम्हार—है। यह बात दूसरों को चाहे पता हो या नहीं। इसी प्रकार, यदि हम इस विश्व को भी एक पदार्थ मान लें, तो अवश्य इसका बनाने वाला भी कोई है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता, चाहे उस जगत रचयिता को किसी ने देखा हो या न, क्योंकि जहां कार्य्य है, वहां कारण अवश्य हुआ करता है। जिन्हें पता है, वे तुरन्त यही कहेंगे कि इस जगत् का रचयिता—ईश्वर—है। फिर बच्चे, यह शंका ही निरर्थक है कि ईश्वर नाम का कोई अस्तित्व है या नहीं।

शिष्य—यह और बतलाने की कृपा कीजिए कि फिर वह दिखाई क्यों नहीं देता ?

गुरु - बच्चे ! स्थूल पदार्थ देखा जाता है और सूक्ष्म पदार्थ से सूक्ष्म। हमारे नेत्र स्थूल हैं, इसलिए उस महाप्रभु को जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, ये नेत्र नहीं देख सकते। उसे तो ज्ञान रूपी सूक्ष्म नेत्र ही देख सकते हैं। ये ज्ञानरूपी नेत्र खुला करते हैं—योगियों—के, इसलिए ईश्वर को वे ही देखा करते हैं। वह महाप्रभु ज्ञानरूप है, पदार्थ रूप नहीं। यदि स्थूल रूप से उसे देखना चाहते हो, तो यह सारा विश्व ही उसका रूप है। फिर इस विश्व को ही ईश्वर समझ लो।

शिष्य—गुरुजी ! यह और समझाइये कि जब जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन हैं, तब इनमें जीवात्मा को परमात्मा की सहायता की क्या आवश्यकता है ?

गुरु - बच्चे ! जैसे चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके रोशनी देता है, वैसे ही जीवात्मा को चैतन्यता परमात्मा से ही प्राप्त हुई है। जीवात्मा इसीलिए अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ। परमात्मा

विश्व का पिता है और जीवात्मा उसका पुत्र। पुत्र को जिस प्रकार पिता के सहयोग की आवश्यकता रहा करती है, उसी प्रकार जीवात्मा को परमात्मा से सहयोग की आवश्यकता है। जीवात्मा परमात्मा की दया से इस भवसागर से पार उतर जाया करती है।

शिष्य–गुरुजी ! यह और बतलाइये कि जीवात्मा परमात्मा से सहायता कैसे प्राप्त किया करता है ?

गुरु–बच्चे ! गायत्री ईश्वर का रूप है। इसका जाप ही परमात्मा की सहायता प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। यह ईश्वरीय वाणी है। वेदों ने इस मन्त्र की बड़ी महिमा गाई है यह गायत्री माता ही जीवात्मा को भवसागर से पार उतारने वाली एक नौका है। जो भी इस नौका में बैठ लेता है, वही जीवन मुक्त हो जाया करता है। इस विषय में इतिहास साक्षी है।

शिष्य–गुरुजी ! वेदों में अनेक मन्त्र होते हुए भी इस गायत्री मन्त्र की तनी महिमा क्यों गाई है ?

गुरु–इसके कई कारण हैं उनमें से कतिपय मैं तुम्हें बतलाता हूं। ध्यानपूर्वक सुनो।

१–गायत्री यथा नाम तथा गुण है। गायत्री शब्द बना है–गाय + त्री–से। –गाय–का अर्थ होता–शरीर–किन्तु यहाँ तात्पर्य–प्रकृति–से है, जिससे यह शरीर बना हुआ है। त्री–का अर्थ होता है–तारने वाली-या–मुक्त करने वाली–दोनों शब्दों को मिलाया, तो बना—गायत्री—और दोनों शब्दों के अर्थों को मिलाया, तो बना —शरीर का उद्धार करने वाली शक्ति– या यों कहिये कि वह महती शक्ति जिसका अवलम्बन करने से मनुष्य प्रकृति के बन्धन से छुटकारा पा ले, अर्थात् जीवन-मरण से मुक्त हो जाय।

२–इस मन्त्र में–(१) स्तुति, (२) उपासना, (३) प्रार्थना–का एक ही साथ वर्णन किया हुआ है। ऐसा दूसरा मन्त्र वेदों में कोई नहीं।

३–इसके जाप से मनुष्य तीनों ही तापों से छुटकारा पाकर जीवन मुक्त अवस्था तक पहुंच जाया करता है और प्राणान्तर पर जीवन-मरण से मुक्त भी हो जाता है।

४–इसके जाप से आन्तरिक शक्ति (मेधाबुद्धि) की जाग्रति हो जाया करती है, फिर उस व्यक्ति का लौकिक तथा पारलौकिक जीवन दोनों ही सफल हो जाते हैं।

शिष्य–गुरु जी। यह बात किसी सरल रीति से समझाइये कि स्तुति–उपासना और प्रार्थना–से क्या तात्पर्य है? और इनसे मन्त्र का महत्व कैसे बढ़ गया?

गुरु–अरे बच्चे! तू तो बड़ा भोला लड़का है। इतना भी नहीं जानता कि स्तुति, उपासना और प्रार्थना होती क्या है? अच्छा ध्यानपूर्वक सुन। गायत्री मन्त्र का पहिला खण्ड है–ओ३म् भूर्भुवः स्वः–और यही स्तुति है। इस खण्ड में ईश्वर का मुख्य नाम और उसके स्मरण से लाभ, इस विषय का वर्णन किया गया है। इस मन्त्र का दूसरा खण्ड है–तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि–और यही—उपासना–है। इससे जो लाभ भावी हैं, उनका वर्णन किया गया है। इस मन्त्र का तीसरा खण्ड है—धियो यो नः प्रचोदयात्—और यही—प्रार्थना–है, उसकी पूर्ति के लिये—मेधाबुद्धि–की माँग की गई है। वेदों में इन तीनों बातों का इतना स्पष्ट वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं है, इसलिए इस मन्त्र का महत्व बढ़ गया है।

शिष्य—गुरुजी ! क्षमा करें। अभी मेरी समझ में तो स्पष्ट रूप से आपका गोरख धन्धा आया नहीं। कृपया सरल भाषा में एक-एक विषय को स्पष्ट रूप से समझाइये।

गुरु—अरे मन्द बुद्धि बच्चे ! ध्यानपूर्वक सुन। स्तुति–कहते हैं–प्रशसा–को। उपासना–कहते हैं–सत्संग–को, और प्रार्थना—कहते हैं –अपनी आवश्यकताओं को नम्रता तथा विनयपूर्वक माँगने–को। यदि आप किसी महानुभाव से कुछ प्राप्ति की इच्छा करते हैं, तो पहिले उसका गुणगान आरम्भ कर दीजिए, ताकि आपको वह अपना शुभचिन्तक तथा विश्वासपात्र समझने लगे। यह तो हुई –स्तुति–जब आप उसके विश्वासपात्र बन जायें, तब उसका सत्संग करना भी आरम्भ कर दीजिए, ताकि रापका उस महानुभाव से सम्बन्ध बढ़ जाये और वह भी आपको अपने सम्पर्क में रखना पसन्द करे, या यों कहिये कि आप अपनी सेवाओं से उस महानुरुष को इतना संतुष्ट कर लीजिये कि वह भी आपको प्रत्युत्तर में लाभ पहुंचाने के अवसर की खोज में रहे। यह हुई–उपासना–अब आपके लिये भी शुभ अवसर आ गया है कि जिस निमित्त उस महापुरुष की उपासना अर्थात् सत्संग कर रहे थे उस पदार्थ के लिए विनयपूर्वक नम्रता से प्रार्थना कीजिये अर्थात् अब वह पदार्थ माँग लीजिये। वह महानुभाव तो अवसर की खोज में था ही कि आपकी सेवाओं का प्रत्युत्तर दे। आप जिस पदार्थ की इच्छा करते थे, उसे अब माँग लीजिये, अवश्य मिल जायेगा। यह है-प्रार्थना–अब बच्चे समझे कि स्तुति, उपासना और प्रार्थना में ही सत्संगी के लिऐ प्रत्येक इच्छापूर्ति का रहस्य निहित है।

शिष्य—गुरुजी ! यहाँ एक शंका और खड़ी हो गई। मनुष्य तो अवश्य अपनी प्रशंसा चाहा करता है। क्या ईश्वर भी अपनी प्रशंसा का इच्छुक है ?

गुरू—वत्स ! गायत्री मन्त्र में—ईश्वर—स्तुति के लिये—ओ३म् भूर्भुवः स्वः—दिया हुआ है। मनुष्य के लिये सबसे प्रथम आवश्यकता है—नीरोगता—की, और फिर मानसिक शक्तियों के—विकास—की। इस गायत्री मन्त्र के स्तुति भाग में—ओ३म् भूर्भुवः स्वः—से दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति हो जाया करती है।

ओ३म्—शब्द बना है—अ, उ, म्—से। शरीर में नाड़ीजाल दो प्रकार का है—स्थूल और सूक्ष्म—सूक्ष्म नाड़ी जाल में तीन नाड़ियाँ ऐसी हैं, जिनके स्रोत—वात, पित्त और कफ—के कुण्डों से आरम्भ होते हैं। आयुर्वेदानुकूल नीरोग वही रह सकता है, जिसके वात, पित्त और कफ समान हों, इन तीनों की सामुहिक संज्ञा ही—त्रिदोष—कहलाती है। जिसका त्रिदोष समान है, वही नीरोग भी है।

मनुष्य निशिदिन श्वास तो लेता ही है। यदि वह श्वास के साथ-साथ—ओ३म्—का भी जाप कर लिया करे, तो उसका त्रिदोष समान बन जायेगा और यही नीरोग रहने की सरलतम तथा सर्वश्रेष्ठ विधि भी है।—ओ३म्—ईश्वर का मुख्य तथा सर्वोपरि नाम है। इस प्रकार—श्वास-प्रश्वास—के साथ—ओ३म्—का जाप, यौगिक दृष्टि से—ईश्वर-स्तुति—कहलाता है। मनुष्य अपने निज कल्याणार्थ ऐसा करना चाहे, तो करे। इसमें ईश्वर की कोई इच्छा नहीं कि आप उसकी स्तुति अर्थात् प्रशंसा करें। वह तो स्वयं ही—स्तुति-सम्पन्न—है। मनुष्य अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये उसका नाम जपता है, ताकि उसका शरीर नीरोग रहे।

यदि मनुष्य सद्भावना के साथ इस प्रकार निरन्तर उसका जाप करता रहे, तो फिर एकदिन उसका—स्थूल-प्राण—भी सूक्ष्म-प्राण मे बदल जायेगा। ऐसी स्थिति आते ही उसका मन भी वाहि-

जगत् में चला जायेगा या यों कहिये कि उसका मन सांसारिक प्रपञ्चको त्यागकर शुद्ध और पवित्र बन जायेगा। ऐसी स्थिति में पहुंचते ही उस साधक में बड़ी-बड़ी मानसिक विशेषतायें (अर्थात् ऋद्धि-सिद्धियां) उत्पन्न हो जायेंगी। यह है—ईश्वर-स्तुति—जिसमें शरीर और मन दोनों ही स्वस्थ हो जाते हैं। प्रशंसा मनुष्य की होती है और मनुष्य की प्रशंसा की भी जाती है, ईश्वर की नहीं। उसके तो नियमों का मनन करना और तदनुकूल आचरण करना ही उसकी स्तुति कहलाती है।

ओ३म्—के साथ, जो—भूर्भुवः स्वः—दिया हुआ है, वह तो ओ३म्—के जाप करने से उत्पन्न हुये परिणाम का प्रतीक है। ओ३म—का जाप करते-करते जब प्राणी शारीरिक तथा मानसिक नीरोगता प्राप्त कर लेता है, तब उसका जीव-भाव, आत्म-भाव में बदल जाया करता है।—भूर्भुवः स्वः—का अर्थ होता है सच्चिदानन्द—जैसे लोहा अग्नि के सम्पर्क से अग्नि रूप धारण कर लेता है, वैसे ही जीव भी—ईश्वर-स्तुति—से आत्म-भावमें पहुंच कर आनन्दमय बनजाया करता है। यह—ईश्वर-स्तुति—ही है, जो साधक को—ईश्वरोपासना—का अधिकारी बना दिया करती है। इसमें ईश्वर—प्रशंसा नहीं, किन्तु उपासक का अपना कल्याण निहित है।

शिष्य—गुरुजी धन्यवाद! मैं आपका बड़ा ही आभारी हूं कि आपने मेरे ज्ञानके कपाट ही खोल दिये और मुझे अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में ला खड़ा किया। अब कृपया यह और बतलाइये कि उपासना क्या है? और स्तुति के पश्चात् अब इसकी क्या आवश्यकता रह गई?

गुरु—बच्चे! तूने बहुत ही महत्व की बात पूछी है। सुनो—ईश्वर-

स्तुति—जहाँ साधारण पथप्रदर्शन किया करती है, वहाँ—ईश्वरोपासना—साधकको उसके लक्ष्यपर पहुंचा दिया करती है।

उपासना—शब्द बना है--उप+आसन--से। उप--का अर्थ होता है-समीप-और--आसन--का अर्थ होता है—बैठना।। जब दोनों शब्दों को मिलाया, तो बना—उपासना—और जब दोनों के अर्थों को मिलाया तो बना—समीप बैठना अर्थात् सत्संग करना।

इस संसार में तीन प्रकार की आत्मायें हैं, जिनके सम्पर्क में रहकर और उनका सत्संग करके प्राणी अपने जीवन को उच्चतम उठा सकता है या यों कहिये कि उनके सत्संग से मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बन सकता है।

१—आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी तथा ईश्वर-भक्त महापुरुष—

इनकी उपासना हुआ करती है, उनका सत्संग करने तथा उनके आदेशानुकूल जीवन को ढालने से। ऐसी महान् आत्माओं से जीवन में पथप्रदर्शन मिला करता है, अर्थात् ईश्वरो पासना के लिये रुचि उत्पन्न हुआ करती है। यही उनके सत्सग से लाभ है।

२—मुक्तात्मायें, जिनको देवताओं की संज्ञा दी हुई है।

इनकी उपासना का अर्थात उनके सत्संग का एक मात्र साधन उनकी जीवनियाँ हुआ करती हैं। उन देवताओं की जीवनी का अध्ययन करने से मनमें यह आशा बंधा करती है कि इन मुक्तात्माओं के पदचिन्हों का अनुकरण करने से तुम्हें भी एक दिन अवश्य मुक्तात्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा। यही इनके सत्संग से लाभ भी है।

३—परमात्मा—वह है निर्विकार और निराकार । उसके सत्संग का वही व्यक्ति अधिकारी होता है, जो आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी तथा ईश्वर-भक्ति में लवलीन है और लाभ भी उसी को हुआ करता है, जो उसे हृदय से सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी समझता और मानता हुआ अपने दैविक कार्य्यों का सम्पादन करता रहता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। ईश्वरने मनुष्य पर ही यह दया की है कि उसे कार्य्य सम्पादन के लिये बुद्धि प्रदान की और उसे अपने कार्य्य करने के लिये स्वतन्त्र भी बना दिया। मनुष्य चाहे तो ईश्वरोपासना से प्रभावित हो अपने पूर्व जन्मों के किये हुये कर्मोंका भुगतानकर प्राणान्त पर मुक्तात्माओं में सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त करलें या ऐसे कर्मों का सम्पादन करता रहे, जिनके फल स्वरूप उसके लिये किसी भावी योनि की भूमिका तैय्यार हो जाय।

इस प्रकार मनुष्य की अपनी दिनचर्या ही उसके भावी शुभाशुभ योनी-क्षेत्रकी भूमिका बांधने में उत्तरदायी हुआ करती है। पूर्व जन्मों के भुगतान किये बिना कोई प्राणी भी चाहे वह राजा है या रंक; साधारण व्यक्ति है या उच्चकोटिका ईश्वर-भक्त, मुक्तात्माओं में सम्मिलित होनेका अधिकारी नहीं बनसकता, या यों कहिये कि प्रकृति से उसका छुटकारा नहीं मिल सकता। पूर्वकर्म फलोंका भुगतान रहते हुये उसे जीवन-मरणका कष्ट सहन करना ही पड़ता है अर्थात् किसी योनी में आना ही पड़ता है।

ईश्वर न्यायकारी है। वह किसीका भी पक्ष नहीं लेता। उसकी दृष्टि में सब ही समान हैं। हाँ, ईश्वर-भक्त में आत्म-बल तथा आत्म ज्ञान हो जाने कारण कर्मफलों के भोगते समय जहाँ वह प्रसन्न हुआ करता है और यह विनय भी किया करता है कि मेरे सभी कर्मोंका भुगतान शीघ्रतम इसी जीवन में होजाय, तो मैं

अपने को सौभाग्यशाली समझूंगा, वहाँ एक साधारण व्यक्ति ईश्वर को ही कोसा करता है अर्थात् ईश्वरपर ही दोष लगाया करता हैं। वह ऐसी दुःखदायी अवस्था में यह भूल जाया करता है कि यह सबकुछ तेरे कर्मों का तो फल है। एक ईश्वर-भक्त और साधारण व्यक्ति में इतना ही तो अन्तर है; वरना मुक्ति प्राप्ति से पूर्व कर्मों का फल तो दोनों को भी भोगना पड़ता है। यह ईश्वरोपासना ही है जो मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक विपदाओं से मुक्तकर, उसके जीवन को आनन्दमय बना दिया करती है; या यों कहिये कि जीवभाव से आत्मभाव में पहुँचा दिया करती है। प्राणान्त तक आत्म भाव बने रहने पर ही अर्थात् ईश्वरोपासना करते रहने परही जीवन-मरण से छुटकारा मिला करता है। मानव जीवन का अन्तिम ध्येय—मुक्ति-प्राप्ति—ही तो है, और उसके लिये—ईश्वरोपासना—ही एक मात्र साधन है।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो आपने उपासना की व्याख्या की किन्तु यहां गायत्री मन्त्रों में तो—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि—लिखा हुआ है। इससे उपासना का क्या सम्बन्ध ?

गुरु—बच्चे ! प्रायः लोग उपासना ईश्वरकी नहीं करते, किन्तु देवताओं की करते हैं। वे भी उपासना नहीं करते, किन्तु उनसे याचना करते हैं। कोई धन माँगता है, तो कोई पुत्रादि। आप जानते हैं कि देवतागण तो मुक्तमायें हैं, उनका प्राकृतिजन्य पदार्थों से क्या सम्बन्ध ? दूसरी भूल मनुष्य यह करते हैं कि उपासना और याचना में अन्तर नहीं समझते। उपासना मनुष्य को ऊँचा उठाती है, और याचना मनुष्य को नीचे गिराया करती है। फिर भी यदि याचना ही करनी है, तो भी उस महाप्रभु से ही क्यों न की जाय ? जो—सवितुः—कहलाता है। जिसके भन्डार में कमी काहुकी नाहिं; किन्तु मिलेगी तभी, जबकि—तत्स वितुर्वरेण्यम्—उस

सर्वशक्तिमान महाप्रभु की, जिसके भण्डार अगणित तथा अतुल पदार्थों से भरे पड़े हैं, कार्य्य करते समय, सद्भावना के साथ निरन्तर उसीका ध्यान रखाजाय और केवल उसीका सहारा लिया-जाय। वह महाप्रभु—भर्गो देवस्य धीमहि—बड़ा ही तेजस्वी और प्रतापी है। उससे मेल करने के लिये तद्वत् गुण भी तो होने चाहिये। वह निर्विकार है, याचक भी पहले सच्चा सर्व त्यागी बने। वह महाप्रभु बड़ा ही तेजस्वी है, याचक को भी शारीरिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये वह दयालु है; याचक को भी परोपकारी बनना चाहिये, फिर मेल हो जायेगा। लेकिन मेल करते समय कोई ऐसी वस्तु भेट चढ़ानी चाहिए, जिस-पर केवल याचक का ही अधिकार हो। ऐसा पदार्थ तो केवल मानव का अपना हृदय ही है। बस, मिलते समय इसे ही भेट में दे देना चाहिये। बात तो यह है कि हृदय से उस महाप्रभु को अपना स्वामी मान लेना चाहिये, फिर जो चाहोगे मिल जायेगा। पहले उससे सच्चा नाता जुड़ जाना चाहिये। यही सरलाति सरल रीति भी है कि उसकी उपासना करने तथा उससे मनोवाञ्छित फल प्राप्त करते समय पहले हृदय से उसे अपना स्वामी मान लीजिये और अपने को उसका सेवक।

शिष्य—गुरुजी! मैं आपका बड़ा ही आभारी हूँ। आज तो आपने उपासना को इतना स्पष्ट और सरल बना दिया है। कि जो भी इसे पढ़ेगा, अवश्य लाभ उठायेगा मेरी आपसे अब यही विनय है कि प्रार्थना को भी स्पष्ट करदीजिये। इससे क्या तात्पर्य्य है?

गुरु—बच्चे! प्रार्थना का अर्थ होता है—अपनी इच्छापूर्ति के लिये विनय पूर्वक नम्र-निवेदन—मनुष्य को स्वाभाविक इच्छा यह हुआ करती है कि जो भी कार्य्य वह करे, उसमें उसे सफलता प्राप्त हो जाया करे। सफलता—मेधाबुद्धि—के हाथ में रह

करती है; इसलिये गायत्री मन्त्रका अन्तिम चरण यह कि—धियो यो नः प्रचोदयात्-हे प्रभो ! आप तेजस्वी हैं । आपसे हम यही प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी बुद्धि को भी तेजस्वी बनाइये, अर्थात् हम सत्पथ विचलित न होने दीजिये, ताकि हमें प्रत्येक कार्य्य में सफलता मिलती रहे ।

शिष्य—गुरुजी ! बुद्धि और मेधाबुद्धि में कोई अन्तर है ? कृपया यह भी स्पष्ट कर दें, तो आपकी महती कृपा होगी, क्योंकि मैं इनके भेदसे परिचित होना चाहता हूँ ।

गुरु—बच्चे !—बुद्धि—वह तत्व है जो कार्य्य सम्पादन किये जाने के पश्चात् उस कार्य्य की त्रुटियों की ओर कर्त्ता का ध्यान आकृष्ट किया करती है और—मेधाबुद्धि—वह विशेष तत्व है, जो कार्य्य सम्पादन से पूर्व ही उस कार्य्य सम्बन्ध में सब कुछ सुझा दिया करती है । साधारण मनुष्यों में तो—बुद्धि—ही हुआ करती है और योगीजनों में—मेधाबुद्धि— ।

शिष्य—गुरुजी ! यह और बतलाने की कृपा कीजिये कि उपासना की सहायता से जब मनुष्य का जीवभाव आत्म-भावमें परिवर्तित हो जाय, तब शेष ही क्या रहता है जिसके लिये प्रार्थना की आवश्यकता है ?

गुरु—बच्चे ! ईश्वरोपासना करते-करते जब मनुष्य जीवात्मा और परमात्मा के बीच जो अन्तर है, उसे समझ लेता है, तब उस परमात्मा के गुणों का उस मनुष्य के हृदयपट पर प्रभाव जम जाया करता है । फिर वह निरन्तर परमात्मा के ही गुणगान करने में जुटजाया करता है । उसे सर्वत्र और सदैव परमात्मा ही परमात्मा दीखा करता है । तत्फलस्वरूप वह ऐसे साधन जुटाने में लग जाया करता है । कि उसका जीवभाव सदैव आत्मभाव में ही बना रहे ।

यही—ईश्वरोपासना—भी है। इस आत्मभाव के आनन्द में वह इतना मग्न हो जाया करता है कि उसे इस आत्मभाव के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा प्रतीत नहीं होता और उसकी यह भावना दृढ़ होती चली आती है कि मैं आजीवन इसी आत्मभाव में रहकर सच्चे आनन्द का अनुभव करता हूँ; इसलिये करबद्ध होकर ईश्वर से नम्र निवेदन करता है कि हे प्रभो! मुझे आप वह सदबुद्धि अर्थात् मेधाबुद्धि प्रदान कीजिये, जिसकी सहायता से मेरा यह आत्मभाव प्राणान्त तक बना ही रहे और इसी आत्मभाव में शरीरत्यागने का सौभाग्य भी प्राप्त हो, ताकि मेरा यह मानव जीवन सफल हो सके और मैं मुक्तात्माओं में सम्मिलित होनेका अधिकारी बनसकूं। यही - ईश्वर-प्रार्थना— है। इस गायत्री मन्त्र में इसके लिये आया है—धियो यो नः प्रचोदयात्—

कितना सुन्दर भाव है? साधक ने बुद्धि के लिये प्रार्थना कीहै, और बुद्धि भी—मेधाबुद्धि—हो। बुद्धि और मेधाबुद्धि में बड़ा भारी अन्तर है। बुद्धि कार्य्य का परिणाम निकलने पर उस कार्य्य के गुणवगुणों को सुझाया करती है और मेधाबुद्धि कार्य्य आरम्भ होने से पूर्व ही उस कार्य्यकी पूरी रूपरेखा सुझा दिया करती है। मनुष्य चाहे लौकिक कार्य्य करे अथवा पारलौकिक। प्रत्येक कार्य्य में बुद्धि की आवश्यकता है और वह भी मेधाबुद्धि की। यदि मनुष्य की मेधाबुद्धि जाग्रत हो आई है, तो फिर उसका कोई कार्य्य भी बिगड़ा नहीं करता है। कार्य्य बिगड़ने से पूर्व मनुष्य की बुद्धि बिगड़ा करती है; इसीलिये कहा भी है—विनाशकाले विपरीत बुद्धि—खोटा समय आता है, तो बुद्धि पहले विचलित होती है। ईश्वरोपासना के पश्चात् साधक की आत्म-भाव में ही रहने की इच्छा उत्पन्न हो आई और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जबकि साधक में—मेधा बुद्धि—का प्रादुर्भाव हो आये; इसीलिये—ईश्वर से प्रार्थना—की आवश्यकता पड़ी।—स्तुति, उपासना तथा

प्रार्थना का सामूहिक रूप ही—गायत्री मन्त्र—है, और इसका महत्व ही—प्रार्थना—से बड़ा है, क्योंकि प्रार्थना भी मेधाबुद्धि के लिये की गई है।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो बतलाइये कि गायत्री मन्त्र के जापसे तीनों प्रकार के ताप कैसे नष्ट हो जाते हैं ?

गुरु—बच्चे ! प्राणायाम की सहायता से जब मनुष्य स्थूल प्राण को सूक्ष्म प्राण में बदल लेता है, तब शारीरिक रोग सब ही जाते रहते हैं, क्योंकि मन जबतक स्थूल प्राण के साथ काम करता रहता है तब-तक ही शारीरिक रोगों की उत्पत्ति हुआ करती है और जब मन सूक्ष्मप्राण के साथ काम करने लगता है, तब सब ही शारीरिक रोगों का अन्त हो जाया करता है या यों कहिये मन जबतक बाहिर्जगत् में रहता है तबतक ही शारीरिक रोगों का आधार मानसिक विकार उत्पन्न होते रहते हैं, और जब सद्भावना के साथ गायत्री मन्त्र के जापसे मन अन्तर्जगत में आ जाता है, तब मानसिक विकार न रहने के कारण शारीरिक रोगोत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं रहा। रोगोत्पत्तिका मूलकारण मानसिक विकार है; इसीलिये प्राणायाम की आवश्यकता है। प्राणायाम गायत्री मन्त्र का पूरक है। प्राणायाम शारीरिक तथा मानसिक रोगनाशक एक महौषध है। जब न तो शरीर में रोग हैं और न मनमें चिन्ता, फिर आत्मिक रोगों का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। अब समझें बच्चे। गायत्री मन्त्र की महिमा।

शिष्य—गुरुजी ! अभी मेरी समझ में तो आया नहीं। मुझे तो किसी सरल रीति से समझाने की कृपा कीजिये।

गुरु—बहुत अच्छा बच्चे ! ध्यान पूर्वक सुनो ! गायत्री मन्त्र के तीन खण्ड हैं—(१) ओ३म् भूर्भुवः स्वः—इसमें—ओ३म्—शब्द के

जापसे शारीरिक-रोगों का नाश तुम सुन ही चुके हो और यह भी सुन चुके हो कि—भूर्भुवः स्वः—साधक को आत्म-राज्य में पहुँचने का अधिकारी बना देता है।—(२) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि—उस महाप्रभु के निरन्तर चिन्तन से मानसिक विकार तो जाते रहते हैं और मानसिक विशेषतायें साधक में उत्पन्न हो जाया करती है, या यों कहिये कि मनसे स्वार्थ तो जाता रहता है और परमार्थ के भाव आजाया करते हैं। स्वार्थ सबसे बड़ा मानसिक रोग है।—(३) धियो योनः प्रचोदयात्—इस खण्ड में ईश्वर से साधक ने मेधाबुद्धि के लिए प्रार्थना की है और वह उसे प्राप्त हो ही जाती है। ईश्वर का सब कुछ उसके सच्चे भक्त के हाथ में रहता है। समझे बच्चे! स्तुति से शारीरिक रोगों का उन्मूलन हुआ; उपासना से मानसिक रोगो का नाश हुआ और प्रार्थना से मेधा बुद्धि की जागृति पर प्रारब्ध कर्मों के भोग भी इसी जीवन में समाप्त हो जाया करते हैं यह गायत्री मन्त्र ही है जो साधक को तीनों तापों से मुक्त कर मुक्तात्माओं में सम्मिलित होने का अधिकारी बना दिया करता है इसीलिए—गायत्री मन्त्र—अकेला ही मनुष्य कल्याण के लिए प्रर्याप्त है।

शिष्य—गूरुजी! यह बात और स्पष्ट करने की कृपा कीजिए कि गायत्री मन्त्र से आत्म-ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है?

गुरु—गायत्री मन्त्र का जाप करते-करते साधक में आन्तरिक शक्ति की जाग्रति हो आती है। इस आन्तरिक शक्ति को ही—कुण्डलिनी शक्ति या आत्म-ज्ञान—कहते हैं, जो जीवात्मा को मनुष्य शरीर धारण करते ही ईश्वर की ओर से मातृगर्भ में ही मिल जाया करता है। जीवात्मा के गर्भ से बाहर आते ही, यह ईश्वर-प्रदत्त आत्म-ज्ञान (कुण्डलिनी शक्ति) स्वयम्भू लिंग से लिपटकर सुशुप्ति अवस्था में पहुंच जाता है। जब साधक कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत

कर उसे आज्ञाचक्रस्थ जीवात्मा के पास पुनः पहुंचा देता है, तब उस साधक में पुनः आत्मज्ञान का प्रादुर्भाव हो आता है। यह सब कुछ गायत्री मन्त्र—की महती शक्ति का परिणाम है।

शिष्य-गुरुजी ! इतना और समझाने की कृपा कीजिये—क्या गायत्री मन्त्र के जाप से प्रारब्ध कर्मों का भी अन्त हो जाता है ?

गुरु—बच्चे ! गायत्री मन्त्र के भाव सहित मानसिक जाप से शारीरिक तथा मानसिक कर्म तो समाप्त हो ही जाते हैं, किन्तु जन्म-जन्मातरों के संस्कार रूप प्रारब्ध कर्मों के भोग भी इसी जीवन में भोग लेने पड़ते हैं, इसीलिए एक ईश्वर-भक्त सदैव दुःखी ही रहता है। इस मन्त्र को इसलिये-गुरु-मन्त्र—या—सावित्री—संज्ञा दी है।

शिष्य-गुरुजी ! जब इतना सुन्दर साधन हमारी संस्कृति में विद्यमान है, तब लोग इधर ध्यान क्यों नहीं देते ? ताकि उनका कल्याण हो ?

गुरु—बच्चे ! इसके कई कारण हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

१—जन साधारण की इस मन्त्र से अजानकारी;

२—कोई ऐसी सुन्दर पुस्तक इस विषय में नहीं मिलती जिसमें इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या दी हुई हो, ताकि लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट हो।

३—सबसे रहस्यमय बात तो यह है कि पण्डितों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इस मन्त्र को दूसरों के सामने उच्चारण करना भी पाप बतलाया है। पूर्वोक्त कारणों से यह मन्त्र जन-साधारण तक अपने वास्तविक रूप में नहीं पहुंचा और लोग इसके महत्व को नहीं समझे।

शिष्य—गुरुजी ! अब तो भारतवर्ष स्वतन्त्र है और भारतवासियों में यदि गायत्री मन्त्र के सही भावों का प्रचार किया जाय, तो देश में न तो फिर कोई पापी रहे, न दुराचारी तथा धूर्त । सबही देवता कहलाने के अधिकारी बन जायें ।

गुरु—बच्चे ! बात तो बड़ी सुन्दर है । अच्छे सदाचारी व्यक्ति केवल अपने लिये ही सुखदायी नहीं होते, किन्तु राष्ट्र के लिए भी रत्न प्रमाणित हुआ करते हैं । फिर न तो राज्य को कोई कठिनाई रहे और न प्रजा को । सभी सुखी रहने के कारण यह संसार ही स्वर्ग बन जाय । सरकार का ध्यान इधर आकृष्ट करना चाहिये, ताकि ऐसा पुस्तकें पाठ्यक्रम में ली जा सके और यह विषय भी पढ़ाई का अंग बन जाये, ताकि बच्चों के सस्कार बचपन से ही ऐसे सुन्दर बन जाय कि वे आजीवन सच्चे सदाचारी कहलाने के अधिकारी हों ।

शिष्य-गुरुजी ! पण्डित् लोग कहते हैं कि गायत्री मन्त्र अछूतों को तथा स्त्रियों को नहीं सिखाना चाहिए, वरना यह मन्त्र अपवित्र हो जायेगा । क्या यह बात सच है ?

गुरु—बच्चे ! पण्डित की परिभाषा तो यह है—जो व्यक्ति सबका भला चाहता हो और अपने सदृश सबका मान करता हो वह पण्डित कहलाता है—जो लोग ऐसा कहते हैं वे पंडित नहीं—धूर्त— हैं । समझे बच्चे ! फिर परमात्मा सबका पिता है । सारी मानव जाति उसकी सन्तान है । फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि उसकी दृष्टि में कौन अछूत है और कौन अयोग्य ? वह परमात्मा तो सबको ही सुखी और उन्नत देखना चाहता है । यह तो धूर्तों की चाल है, पण्डितों का कथन नहीं । गायत्री जो एक ईश्वरीय आदेश है, अपवित्र हो जायेगा । सुनिये ! पारस पत्थर से लोहा छूवे या

लोहे से पारस पत्थर, दोनों अवस्थाओं में लोहा ही सोना बन जाया करता है, इसलिए इस गायत्री मन्त्र पर सबका ही अधिकार है। वह चाहे पुरुष है या स्त्री। ब्राह्मण है या जनसाधारण में से कोई व्यक्ति। गायत्री मन्त्र को जो भी सद्भावना के साथ जपेगा, वह ही इस भवसागर से पार उतर जायेगा।

शिष्य—गुरुजी ! गायत्री मन्त्र से लाभ उठाने के लिये मनुष्य में कौन सी योग्यता होनी चाहिए ?

गुरु—बच्चे गायत्री मंत्र से वह व्यक्ति ही लाभ उठा सकता है, जो ब्रह्मचारी, स्वार्थ त्यागी तथा शुद्ध अन्तःकरण वाला हो। फिर चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, और किसी भी व्यवसाय का करने वाला क्यो न हो, और किसी भी देश का निवासी क्यों न हो ? गायत्री जाप के लिए लिंग तथा जाति-पांति की कोई रुकावट नहीं है।

शिष्य-गुरुजी ! ब्रह्मचर्य्य से आपका क्या आशय है ?

गुरु—बच्चे ! जिस व्यक्ति का आहार, व्यवहार तथा रहन-सहन सादा हो, वही ब्रह्मचारी है वही गायत्री मन्त्र से लाभ उठा सकता है। सदाचार ही साधक की योग्यता है।

शिष्य—मैं आपका, गुरुजी ! बड़ा अभारी हूं। शतशः धन्यवाद ! सादर नमस्ते।

—(:o:)—

ईश-प्रार्थना

ब्रह्मन राष्ट्र में हों, द्विज ब्रह्म तेजधारी।
क्षत्री महारथी हों, अखिल विनाशकारी ॥१॥

होवें दुधारु गायें, पशु अश्व आशुवाही।
आधार राष्ट के हों, नारी सुभग सवाही ॥२॥

बलवान सम्य योधा, यजमान पात्र होवें।
इच्छानुसार वर्षे, परजन्य ताप धोवें ॥३॥

फल फूल से लदी हों, औषध अमोघ सारी।
हों योगक्षेमकारी; स्वाधीनता हमारी ॥४॥

ईश्वरोपासना

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने मतमतान्तरों के अनु-
यायियों की आँखें खोलने के लिए नाना प्रकार की
शंका-समाधानों के साथ ईश्वरोपासना के आठ वेद-
मन्त्रों की ऐसी सुन्दर रीतिसे संकलन किया
है कि इससे महर्षि की प्रतिभा का ही नहीं,
किन्तु सत्यपथ विचलित व्यक्तियों को
सन्मार्ग पर लाने की, उनकी
हार्दिक लग्न का अनुमान भी
सरलतापूर्वक लगाया जा सकता
है। महर्षि का यह प्रयत्न
सराहनीय ही नहीं, किन्तु
प्रत्येक धर्म-जिज्ञासु
के लिए जीवन
में अनुकर-
णीय भी
है।

ईश्वरोपासना पर वक्तव्य

गायत्री मन्त्र के अन्तर्गत ईश्वर-स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना का पूरा पूरा विवरण उपासक की शंकाओं का समाधान करते हुए दिया जा चुका है; किन्तु फिर भी महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने उपासक द्वारा उपस्थित शंकाओं का वेद मन्त्रों द्वारा समाधन करने के लिए ईश्वरोपासना के नाम से आठ वेद मन्त्र जन कल्याणार्थ की भावना से उपासक के सामने ला उपस्थित किये ताकि उपासक का अपना जीवन ही सफल बनाने का सौभाग्य प्राप्त न हो, किन्तु यह समस्त संसार ही इस अमृतोपदेश पान करने से स्वर्ग बन जाय ताकि, फिरसे विश्व की आवाज भारतवर्ष के विषय में यही निकले—

यह वृद्ध भारत गुरु है हमारा।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा उल्लिखित

ईश्वरोपासना निम्नलिखित शंकाओं के उत्तर में एक समाधान है।

उपासना क्या है ? उपासना किसकी हो ? उपासना का विषय क्या हो ? यह विषय भी क्यों हो ? उपासना कैसे की जाय ? उपासना के अनेक मन्त्र वेदों में आये है, फिर इन्हीं आठ मन्त्रों को महर्षि ने उपासना में क्यों लिया है ? क्या इनकी संख्या में न्यूनाधिकता हो सकती है ? वेदों में ये मन्त्र आगे-पीछे आये हैं, फिर यहाँ प्रस्तुत क्रम ही क्यों ठीक माना जाय ? क्या इस क्रम को बदला जा सकता है यदि नहीं तो क्यों ?

———
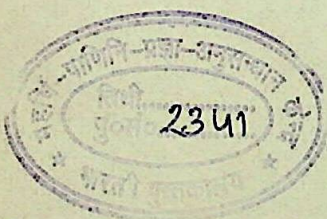
ईश्वरोपासना पर उत्पन्न हुई शंकाओं का समाधान

(१) उपासना क्या है ?

जीवात्मा ने मन को अपना प्रतिनिधि बना कर बहिर्जगत का प्रबन्ध करने के लिए इस निमित्त भेजा था कि वह संसार में जाकर ऐसे शुभ कर्म करे कि उसके पूर्व सञ्चित प्रराब्ध कर्मों का तो इसी जीवन में भुगतान हो जाय और भावी नूतन संस्कार पुनर्जन्म के साधन न बनें, ताकि उसे जीवन-मरण से मुक्ति मिल जाये; किन्तु मन वहिजगत् में आकर वह सांसारिक प्रलोभनों में ऐसा फँसा कि जीवात्मा के बुद्धि द्वारा प्राप्त आदेशों की तो अवहेलना करने लगा और प्राणों की सहायता से इन्द्रियों द्वारा ऐसे अशुभ कर्म सम्पादित करवाने लगा कि जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा और अधिक जीवन-मरण के चक्कर में आ फँसा। जीवात्मा के शुभ संस्कारों के कारण यदि मनुष्य महापुरुषों के सत्संग में आ गया या सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करने लगा और उनका उसके मन पर प्रभाव भी पड़ गया, तो मन फिर अपनी कुचालों को त्याग कर बुद्धि द्वारा जीवात्मा के आदेशानुकूल चलने लगता है। इस दशा में मन और बुद्धि का मेल हो जाया करता है अब मन अपनी मन-मानी नहीं करता और काम क्रोध आदि से मुक्त हो, परोपकारी और संयमी बन जाया करता करता है। यहीं से ईश्वरोपासना का श्रीगणेश आरम्भ हुआ करता है। इस शैली का नाम ही — उपासना—है। अब मन वहिर्जगत् के कार्य्यों की अपेक्षा अन्तर्जगत् के कार्य्यों का सम्पादन करने लगता है। यही— ईश्वरोपासना—है।

(२) उपासना किसकी हो ?

मनुष्य सर्वप्रथम सांसारिक सुख चाहता है, क्योंकि इसे ही वह सर्वोपरि मान बैठा है। इसके लिये वह ऐश्वर्य्य सम्पन्न बनना चाहता है, तत्फलस्वरूप धनी लोगों, बली पुरुषों तथा विद्वज्जनों से मेल-जोल बिठाता रहता है और लगातार इस प्रयत्न में रहता है कि कोई ऐसा व्यक्ति उसे मिल जाय जो उसकी तीनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर दिया करे। यदि सौभाग्य वस ऐसा व्यक्ति उसे मिल जाय, जो सबसे बलवान है और सबसे विद्वान है, तो बुद्धि उसे—पुरुषविशेष—की संज्ञा देती है, किन्तु वेद शास्त्रों ने उसे ही —ईश्वर—कहा है। वह ईश्वर ही सर्वशक्ति सम्पन्न, सर्वव्यापी तथा सर्वोपरि ही नहीं, किन्तु दयालु भी है। उसी के हाथ में लौकिक सुख तथा पारलौकिक आनन्द भी है; इसीलिए मनुष्य अपने कल्याणर्थ उसी महाप्रभु की उपासना क्यों न करे ? ताकि उसे जीवन में तो सुख और प्राणान्त पर मुक्ति प्राप्त हो जाय, इसीलिए कहा भी है—

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मगन, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
परमात्मा को जब आत्मा में, लिया देख ज्ञान की आंखों से।
पार हुआ भव-सागर से, अब कोई क्लेश लगा न रहा॥

मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह महाप्रभु ईश्वर की उपासना करे।

(३) उपासना का विषय क्या हो ?

जब उपासक का सीधा सम्बन्ध ईश्वर से हो जाता है, तब उसे केवल सद्-बुद्धि (आत्मज्ञान अथवा कुण्डलिनी शक्ति) प्राप्ति की ही इच्छा रहती है, क्योंकि सद्-बुद्धि जो जीव को ईश्वर से मातृ-गर्भ में रहते हुए मिली थी, और फिर मस्तिष्क-स्थित सहस्रार चक्र में अपना स्थान निश्चित कर लिया; किन्तु जीव के मातृगर्भ से बाहर आते ही यह सद्-बुद्धि भी सहस्रार

चक्र से चल कर स्वाधिष्ठान पर स्वयम्भू लिंग से लिपट कर सुषुप्ति अवस्था में हो जाती है, यह स्वयम्भू लिंग लिपट जाती है इसीलिये इसे अव कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। उपासक का मन जब अन्तर्मुखी होकर अपने स्वामी जीवात्मा के पास जाकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, तव यह कुण्डलिनी शक्ति भी जागृत होकर ऊपर सहस्रार चक्र में पहुंच जाया करती है। ऐसा होने पर ही उपासक का जीवभाव आत्मभाव में बदला करता है। यदि उपासक का यह आत्मभाव प्राणान्त तक बना रहा, तो उपासक मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। आत्म-भाव का आनन्द अपार है। जिसने इसका एक बार भी आनन्द उठा लिया, उसकी अभिलाषा सदैव इसी भाव में रहने की बन जाया करती है, इसलिए उपासक की ईश्वर-प्रार्थना का विषय अब केवल—सद्-बुद्धि—(आत्म-ज्ञान) प्राप्ति ही रह जाता है। इसे ही—मेधा—बुद्धि—कहते हैं।

(४) उपासना का विषय मेधाबुद्धि की प्राप्ति क्यों हो ?

कुण्डलिनी शक्ति (मेधाबुद्धि=आत्म ज्ञान) की जागृति उपासक का मन बिना —शुद्ध-बुद्ध-मुक्त—नहीं होता और बिना ऐसा हुए उपासक का जीवभाव आत्मभाव नहीं बदलता। आत्मज्ञान से ही उपासक का जीवभाव आत्मभाव में ठहरा करता है। जिसने आत्मभाव के आनन्द को एक बार भी अनुभव कर लिया, उसे इसके अतिरिक्त किसी भी विषय की चाह नहीं रहती, इसलिए उपासक की निवृत्ति के लिये उसकी ईश्वर प्रार्थना का विषय—आत्मज्ञान, सद्बुद्धि या मेधाबुद्धि-ही हो सकता है। ये तीनों ही पर्य्यायवाची शब्द हैं।

(५) ईश्वरोपासना कैसे की जाय

इसके लिए आगे चार रीतियाँ विस्तार-पूर्वक वर्णन की गई हैं। यहाँ इतना कहना ही पर्य्याप्त है कि मनुष्य अपने लौकिक कार्य्यों को करता हुआ

भी यदि ईश्वर को हृदय से अपना स्वामी मानले, तो उसके लौकिक कार्य ही पारलौकिक कार्यों के साधन बन, उसे जीव भाव से आत्मभाव में पहुंचा देते हैं। —आत्म—भाव— साधक की वह अवस्था हैं जो उपासक में विश्व-कल्याण की भावनायें जाग्रत करके उसे व्यावहारिक रूप में ला दिया करती है। इस अवस्था में पहुंच कर ही महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती के हृदय—मेंकृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्—की भावना उत्पन्न हो आई थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कल्याणार्थं महर्षि के आदेशों का मनन कर उन्हें अपने जीवन का अंग बना लेना चाहिये।

(६) आठ मन्त्रों को ही महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने क्यों लिया ?

उपासक को ईश्वरोपासनाका विषय समझाने के लिए महर्षि ने वेदों में से आठ मन्त्र चुने हैं और आवश्यकता भी इन्हीं आठ मन्त्रों की थी। फिर उनकी संख्या में न्यूनाधिक करने का प्रश्न ही नहीं उठता और न उनके वेदोक्त क्रम का।

पहले मन्त्र द्वारा तो महर्षि ने यह दर्शाया है कि उपासक का आचरण उस महाप्रभु से नाता जोड़ने के लिये कैसा होना चाहिये ? फिर अगले चार मन्त्रों द्वारा उपासक को भिन्न-भिन्न शंकाओं का समाधान किया है। छटे मन्त्र में यह बतलाया गया है कि ईश्वर से अपनी माँग पूरी करवाने के लिये उपासक की ईश्वर में अटूट श्रद्धा होनी आवश्यक है। सातवां और आठवां मन्त्र उपासक की माँग पूर्ति के उपलक्ष्य में है।

जन कल्याण की उच्च भावनाओं का भी पाठकगण को सहज ही में पता लग सकेगा कि महर्षि ने उपरोक्त आठ वेदमन्त्रों का ईश्वरोपासना में सम्मिलित कर कितना उपकार किया है। यह सच है कि वे विश्व को ही स्वर्ग बनाना चाहते थे। धन्य हे ऋषि ! आपको बारम्बार प्रणाम्।

—o—

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती

संसार में बड़े-बड़े सुधारकों और महापुरुषों के जन्म का कारण तत्कालीन –परिस्थितियाँ–ही–हुआ करती हैं– । श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का जन्म भी अठाहरवीं शताब्दी की गिरती हुई वैदिक संस्कृत ही कहा जा सकता है । उस समय हिन्दू-जाति ईश्वर से विमुख हो चली थी। ईश्वरोपासना का स्थान देवताओं की पूजा ने ले लिया था । महात्माओं और विद्वानों के स्थान में ढोंगी पुजने लग गये थे अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आ गई थीं जिन्होंने महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जैसे धार्मिक क्रान्तिकारी को जन्म दिया ।

महर्षि का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत मोरवी राज्य के एक नगर टंकारा में औदित्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था । १४ वर्ष की आयु में ही शिव रात्रि के अवसर पर आपको आत्म-ज्ञान का प्रादुर्भाव हो गया था । आपने पैतृक सम्पत्ति पर लात मार, संन्यास ग्रहण कर तपस्या का जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया था । फिर स्वामी विरजा नन्द जी का द्वार खटखटाया और दो वर्ष तक इस आदर्श गुरु के चरणों में बैठकर अष्टाध्यायी और महाभाष्य की शिक्षा प्राप्त कर वेदार्थ करने की कुञ्जी प्राप्त करली । तदनन्तर अपना शेष जीवन महर्षि ने प्राचीन आर्य-संस्कृत के प्रचार में लगा दिया ।

भारत का यह दुर्भाग्य था कि जोधपुर की वेश्या के षड़यन्त्र में फंसकर महाराज के ही विश्वासपात्र रसोइये लालची जगन्नाथ ने बारीक पिसा हुआ काँच दूध में मिलाकर उन्हें पिला दिया। इतना होते हुये भी महर्षि ने उसे कुछ न कहकर केवल भाग जाने के लिये आदेश दिया। यह भी महर्षि की उदारणीय उदारता है। महर्षि इतने उदार हृदय के थे कि अपने घातकों को भी पीड़ित देखना नहीं चाहते थे । महर्षि ने वैदिक प्रचार को स्थायी रूप देने के लिये आर्य समाज की स्थापना कर वैदिक उद्देश्यों को आर्य समाज के नियमों में सम्मलित कर देश के लिये एक सच्चा आदर्श स्थापित कर गये । सच कहा है–

यह मत कहो जगत में, कर सकता क्या अकेला ।
लाखों में काम करता, है सूरमा अकेला ।।
था कुल जगत् विरोधी, तिस पर ऋषि दयानन्द ।
वैदिक धर्म का झण्डा, फहरा गया अकेला ।।

उपासना की आवश्यकता

उपासना दो शब्दों से बना है —उप + आसन—उपका— अर्थ होता है —पास— और —आसन— का अर्थ होता है—बैठना— । -उपासना का— अर्थ बना—पास बैठना—अर्थात् सत्संग करना ! सत्संग किया जाता है—शरीर धारियों का—इस लिये सत्संग होगा—महान पुरुषों का— ईश्वर और देवी देवता हैं—निराकार। इनकी होती है-उपासना— ।

देवी और देवताओं की उपासना की रीत तो वह है कि उनकी जीवनी पर दृष्टि डालिये और विचारिये कि ये आत्मायें किस प्रकार इस देवयोनि में पहुंचें हैं। फिर आप भी अपने जीवन को उसी प्रकार का बनाकर इस पदवी को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिये। किस ने सच कहा है--

मानवों की जीवनी यह हमें बतला रही
अनुकरण कर मार्ग उनका उच्च बन सकते सभी
काल रूपी रेत पर चिन्ह जो तज जायेंगे,
आदर्श उनको मानकर आगन्तुक ख्याति पायेंगे।

ईश्वर भी निराकार है, किन्तु उसकी उपासना करने की रीति देवताओं की उपासना से भिन्न है। इसकी उपासना की कई रीतियाँ हैं, जिनका आगे वर्णन किया जायेगा। यहाँ तो एक ऐसी रीति का वर्णन किया जा रहा है, जिसे सब कर सकते हैं।

मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य्य में ईश्वर को—सर्वव्यापी—शक्तिशाली—तथा—न्यायकारी—हृदय से सच्चे रूप में मानता हुआ उसे सम्पादित किया करे, ताकि उसके पूर्व संचित कर्मों का तो इसी जीवन में भुगतान हो जाय और भावी ऐसे कर्म सम्पादित ही न हों, जिसके कारण उसे जन्म लेना पड़े यदि मनुष्य आयु पर्य्यन्त इसी प्रकार अपने कार्य्यों का सम्पादन कर ईश्वर की उपासना की तो, उसका—जीवभाव आत्मभाव में—परिणित होकर प्राणा-

न्त पर वह मनुष्य—देवयोनि—में जा मिलेगा अर्थात् किसी निश्चित काल के

लिये मुक्त हो जायेगा।

महान् पुरुषों के सत्संग इश्वरोपासना की ओर प्रेरित करता है। देवी देवताओं की उपासना मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा पैदा करती है और ईश्वरोपासना मुक्ति प्रदाता है।

याचना और उपासना में अन्तर

उपासना और याचना दो भिन्न-भिन्न विषय है। मनुष्य जब अपनी आवश्यकता दूसरों से मांगकर पूरी करता है, तब उस व्यक्ति को तो—याचक—और उसकी इस मनोवृत्ति को—याचना—कहते हैं, किन्तु मनुष्य जब किसी का सत्संग कर उसके गुणों को अपने स्वभाव का अंग बना लेता हैं, तब उस मनुष्य को तो—उपासक—और उसके इस आचरण को—उपासना—कहते हैं। याचना जहाँ मनुष्य को आलसी बना देती है, वहाँ उपासना उसे उत्साही बनाया करती है। याचना से जहाँ मनुष्य का नैतिक स्तर गिर जाया करता है, वहाँ उपासना से ऊँचा उठ आया करता है।

भक्ति काल (११०० से १८००) तक के महात्माओं ने लोगों के हृदय में ऐसी भावना जमादी कि लोग देवी देवताओं की उपासना करने के स्थान पर उनसे धन-धान्य तथा पुत्र पौत्रादि की याचना करने लगे और उन्होंने इसी याचना को उपासना समझ लिया। यह लोगों की बड़ी भारी भूल हुई। याचना उससे करनी चाहिये, जिसके पास याचित वस्तु हो यदि कोई व्यक्ति हलवाई की दुकान पर जाकर कपड़ा खरीदने लगे, तो लोग उसे मूर्ख कहेंगे देवी-देवता तो मुक्तात्मायें हैं। उनका अब सांसारिक पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनसे तो केवल एक ही लाभ हो सकता है कि मनुष्य उनके चरित्र का अनुकरण कर अपने जीवन की बिखरी हुई असुविधाओं को दूर कर किसी दिन उनकी भान्ति ही देव-पदवी पर पहुंच सकते हैं और आने वाली पौदके लिये मार्ग प्रदर्शक बन सकता है।

ईश्वरोपासना से ही लौकिक जीवन पारलौकिक जीवन का साधन बन अन्त में मुक्ति प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है।

(महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती के दृष्टिकोण से)

ईश्वरोपासना का महत्व

जीवात्मा तो अल्पज्ञ और एक स्थानीय है। परमात्मा सर्वज्ञ और सर्व-व्यापी है। जीवात्मा का मेल प्रकृति से भी है; और परमात्मा से भी किन्तु जब इसका मेल प्रकृति से रहता है, तब यह विकारयुक्त बन जाता है और जब परमात्मा से संबंध जुड़ जाता है, तब विकार रहित बन जाता है। परमात्मा प्रकृति से रहित होने के कारण निर्विकार है ही। मेल दो समान तत्वों में ही हुआ करता है।

मनुष्य जब ईश्वर को सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी समझ कर और ऐसा ही हृदय से भी मान कर अपने दैनिक कार्य्यों को सम्पा-दित करता रहता है, तब उसके भावी जीवधारी या प्राणधारी योनि के लिए नूतन संस्कार भी बनने बन्द हो जाया करते हैं और पूर्व संचित कर्म-फल इसी जीवन में भोग लेने पड़ा करते हैं; इसलिए उसके सभी काम निष्काम भाव से सम्पादित होने लगते हैं और ऐसा व्यक्ति भी जैसे लोहा अग्नि में पड़ कर अग्नि रूप धारण कर लेता है, वैसे ही ईश्वर के सम्पर्क में आकर उस व्यक्ति का जीव-भाव भी आत्म-भाव में पहुंच निर्विकार बन जाया करता है। अब उस व्यक्ति को परमात्मा ही सर्वत्र और सर्वोपरि दीखा करता है और उसकी भक्ति में ही अपना कल्याण समझा करता है।

जीवात्मा पर ऐसी कृपा होते ही वह प्राणी संयमी और परोपकारी बन जाता है। प्राणान्त पर ऐसा व्यक्ति परलोक में मुक्तात्माओं के साथ स्वेच्छा-पूर्वक निवास करने लगता है। ईश्वरोपासना से सबसे बड़ा लाभ मनुष्य को यही होता है कि वह जन्म-मरण के चक्कर से बच कर ईश्वरीय न्याय-व्यवस्था-नुकूल किसी निश्चित् काल के लिए मुक्त हो जाता है।

ईश्वर का अस्तित्व

(वह साकार है या निराकार)

इस संसार की रचना का आधार–कार्य्य–कारण–ही कहा जा सकता है। —कार्य्य से कारण—का पता चला करता है। इस सारे संसार को यदि एक कार्य्य रूप में मान लिया जाये, तो अवश्य इसका कोई कारण भी होगा। इस विषय में–बुद्धिवाद–का तो यही निर्णय है कि इस अद्भुत संसार का रचयिता भी कोई अद्भुत व्यक्ति ही होना चाहिये। बुद्धि इस अद्भुत रचयिता को–पुरुष विशेष–के नाम से पुकारती है; किन्तु वेद-शास्त्रों ने उस पुरुष विशेष को ही–ईश्वर—संज्ञा दी है। कार्य्य कारण भाव से वस्तुतः इस संसार रूपी कार्य्य का वह ईश्वर ही कारण है; इसलिये उसके अस्तित्व में तो किसी को शंका करने का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

हाँ यह एक विचारणीय प्रश्न अवश्य है कि वह ईश्वर–साकार–है या निराकार ?–इस सम्बन्ध में वेद शास्त्रों का यही एक निर्णय है कि वह साकार नहीं। वह तो निराकार हो सकता है, क्योंकि—साकार सदैव एकदेशीय—हुआ करता है और वह है सर्वव्यापक। इस दशा में उसका साकार होना सम्भव नहीं। यह सारा ब्रह्माण्ड ही उसका साकार रूप है और उसका पात्र ही–ईश्वर–है। ईश्वर न तो कभी साकार हुआ और न होगा। वह तो सर्वव्यापी होने के नाते निराकार ही है।

इस विषय का विस्तृत वर्णन देखिए—वैदिक सन्ध्या—(जो आत्मा और परमात्मा के बीच एक सन्धि-पत्र के रूप में है!)

इस पुस्तक का मूल्य केवल ३ रुपये।

ईश्वरोपासना ही जीवनोद्धार प्रणाली है।

यह दुनिया कर्म-क्षेत्र है, कोई सैरगाह नहीं।
जब तक है प्राण तन में, उस प्रभु को भुलना नहीं ॥

प्रत्येक प्राणी का जीवन-संकल्प क्या हो ?

हे ईश्वर ! मेरी नस-नस में, शक्ति रहे, उत्साह रहे।
बनूँ साहसी, बाधाओं की, कुछ न मुझे परवाह रहे ॥१॥

हो चाहे कंकरीली, पर प्रभो ! सीधी सच्ची राह रहे
बढ़ता रहूं सदा दृढ़ता से बढ़ने की बस, चाह रहे ॥२॥

चेतावनी

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मगन, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
परमात्मा को जब आत्मा में, लिया देख ज्ञान की आँखों से।
पार हुआ भवसागर से, अब कोई क्लेश लगा न रहा ॥

प्रातः सायंकाल करने योग्य ईश विनय

कैसे स्तुति करूँ तुम्हारी, है स्वर में माधुर्य्य नहीं।
मन के भाव प्रकट करने को, वाणी में चातुर्य्य नहीं ॥१॥

दान दक्षिणा कुछ नही लाया, खाली हाथ चला आया।
पूजा की विधि नहीं जानता, फिर भी नाथ चला आया ॥२॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारी को समझो।
दान, दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारी को समझो ॥३॥

सेवा में अर्पित हूं भगवन्, चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकराओ या प्यार करो ॥४॥

—:पुस्तकें मिलने का पता:—

१— पं० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा; मोहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)

२— स्वामी योगानन्द सरस्वती, योगाश्रम, आर्य्यनगर, अलवर (राजस्थान)।

ईश्वरोपासना पर भूमिका

प्रायः लोग यह नहीं समझते कि–उपासना–किसे कहते हैं ? उपासना शब्द बना है—उप+आसन– से, उप का अर्थ होता है—समीप—और —आसन—का अर्थ होता है–बैठना–जब दोनों शब्दों को मिलाया, तब बना–उपासना–और दोनों शब्दों के अर्थों को मिलाया, तब बना—समीप बैठना या सत्संग करना—सत्संग किया जाता है—प्राण–धारियों का।

महापुरुषों का सत्संग होता है; किन्तु वह महाप्रभु तो—निराकार— है। उसका सत्संग करना–उपासना–कहलाती है। यह चार प्रकार से हो सकती है। १–सगुण उपासना, २–निगुण उपासना, ३–साकार उपासना ४–निराकार उपासना। साधक अपनी सुविधानुसार किसी भी रीति का अवलम्बन कर ले; फल सबका एक ही है। वह है–जीव-मुक्त अवस्था की प्राप्ति–इन सबका आगे विस्तृत वर्णन किया गया है।

इस विषय में यह भी ध्यान रखने की बात है कि मेल सदैव दो समान व्यक्तियों या तत्वों में हुआ करता है; चोर का चोर के साथ, साहू का साहू के साथ, सज्जन का सज्जन के साथ और धूर्त का धूर्त के साथ। वह महाप्रभु –निर्विकार–है। मनुष्य जब तक अपनी बुराइयों और त्रुटियों को हटा नहीं लेता, तब तक न तो वह निर्विकार होगा और न उसका मेल उस महाप्रभु से होगा।

इस विषय में इतना कहना ही पर्य्याप्त है कि मनुष्य सच्चे हृदय से उस महाप्रभु की शरण में आ जाय, फिर उस उपासक का वह दयालु महाप्रभु ही स्वयं पथ प्रदर्शक बन जायेगा।

विनीत

स्वामी योगानन्द सरस्वती,

आर्य्य संयासी

ईश्वरोपासना के आठ मन्त्र

१—ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रन्तन्न आसुव ।

२—ओ३म् हिरण्य गर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत् ।।१।।
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमाम कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। २।।

३—ओ३म् य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।३।।

४—ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जागत बभूव,
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।४।।

५—ओ३म् येन द्यौरुग्रा पृथ्वीचदृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५।।

६—ओ३म् प्रजापते नः त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तुन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रमीणाम् ।।६।।

७—ओ३म् सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमान शानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।।७।।

८—ओ३म् अग्ने नय सुपथाराये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
प्रयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम ।।८।।

मनुष्य को ईश्वरोपासना का अधिकारी बनने के लिये प्रथम वेदोपदेश ।

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरि
तानि परासुव यद्भद्रन्तन्नआसुव ।१।।

पदच्छेद

विश्वानि । देव । सवितः । दुरितानि । परासुव । यत् । भद्रम् । तत् । नः । आसुव ।।

अन्वय

सवितः देव, नः विश्वानि दुरितानि परासुव, यत् भद्रम् तत् आसुव ।।

संस्कार विधि में महर्षि द्वारा वर्णित मन्त्रार्थ

हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्ति कर्त्ता तथा समस्त ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर ! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) समस्त (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परासुव) दूर कीजिये । (यत्) जो (भद्रम्) कल्याण कारक गुण, कर्म स्वभाव से पदार्थ हैं (तत्) वे सब हमको (आसुव) प्रदान कीजिए ।

सरलार्थ

वह परम पिता परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न है। वही इस विश्व का विधाता भी है। जब मनुष्य अपनी बुराइयों को त्याग कर अर्थात् स्वार्थ रहित होकर उस परमेश्वर की शरण में चला जाता है, तब वह परमात्मा भी उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर दिया करता है।

यौगिक भावार्थ

जब तक मन और प्राण को बहिर्जगत् से जीवात्मा के पास अन्तर्जगत् में वापिस नहीं पहुँचा दिये जाते, तब तक जीवात्मा के लिए किसी भावी योनि की भूमिका बननी बन्द नहीं हुआ करती है। जब ये दोनों–मन और प्राण—आज्ञा चक्र में पहुँच अपने स्वामी से जा मिलते हैं, उस समय मानसिक वृत्तियाँ बन्द हो जाने के कारण, जीवात्मा के भोग के लिये नूतन संस्कार भी बनने बन्द हो जाया करते हैं। अब जीवात्मा अपने सेवक मन की सहायता से प्राणों की अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्र में दे दिया करता है। इस दशा में साधक का जीवभाव भी आत्मभाव में बदल जाया करता है। यही सच्ची ईश्वरोपासना भी है।

ध्यान देने योग भाव

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने जन कल्याणार्थं साधक के लिए आत्म-राज्य के महल में पहुँचाने के निमित्त वेदोक्त यह सीढ़ी रख दी है ताकि साधक के लिए आत्मभाव प्राप्त करना सरलतम बन जाय। यह महर्षि की मेधाबुद्धिका ही चमत्कार कहिये।

ईश्वरोपासना के प्रथम मंत्र की व्याख्या

सवित: देव

परम पिता परमात्मा सकल जगत्का उत्पत्ति कर्त्ता, समस्त ऐश्वर्य्य का स्वामी शुद्ध स्वरूप समस्त सुखों का दाता है। उसीका इस जगत् पर शासन है।

एक धर्म जिज्ञासु के लिये — विज्ञान, धर्म तथा ईश्वर का — मानव-जीवन से सम्बन्ध जानना आवश्यक है।

वर्तमान काल एक वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिकों ने नये-नये आविष्कारों को जन्म देकर संसार को इतना अन्धा बनादिया है कि मनुष्य धर्म और ईश्वर को—बिल्कुल ही भूल बैठा। वैज्ञानिकों के मतानुसार धर्म तो मानव जाति में कलह का कारण है और ईश्वर एक ढकोसला है। तत्फलस्वरूप विज्ञान सम्पन्न देशोंका नैतिक पतन अकथनीय दशा में पहुंच चुका है।

विज्ञान, धर्म और ईश्वर—विषय में यदि यह कहाजाय कि विज्ञान भौतिकता का जन्मदाता है और धर्म तथा ईश्वर आध्यात्मिकता का, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। विज्ञान की सहायता से जहां किसी देशकी आर्थिक दशा का सुधार होता है, वहां धर्म के द्वारा विज्ञान की सहायता से उत्पन्न किये हुये ऐश्वर्य्यका सदुपयोग किया जाता है। धर्म ही मनुष्य के हृदय में सद्गुणों का समावेशकर उसे सत्यपंथ पर चलाया करता है। सच पूछो तो धर्म-प्रसार से ही देश-देशान्तरों में शान्ति रहा करती है। यह कहना उचित

नहीं जान पड़ता कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के विरुद्ध हैं; किन्तु यह कहना ही उचित है कि दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।

धर्म के अभाव से भौतिक वादी लोग अहंकारी, भ्रष्टाचारी, दम्भी, स्वार्थी और स्वेच्छाचारी बन जाया करते है। धर्म ही मनुष्यों में ज्ञान, नियम और परमार्थ की भावनायें जाग्रत किया करता है। लौकिक जीवन के लिये जहाँ विज्ञान की आवश्यकता है, वहाँ पारलौकिक जीवन के लिये धर्म की।

कार्य्य-कारण भाव से ईश्वर के अस्तित्व में कोई शंका शेष नहीं रह-जाती। सांसारिक प्रत्येक पदार्थ का जब कोई स्वामी होना आवश्यक है, तब यदि इस समस्त संसार को भी एक पदार्थ मानलिया जाय, तो इसका भी कोई स्वामी अवश्य होना चाहिये इसके रचयिता को ही – ईश्वर—संज्ञा दी गई है। यही धर्म और विज्ञान को सीमान्तर्गत तथा मर्यादान्तर्गत रखने वाली अद्वितीय शक्ति है। मानव जीवन की सफलता के लिये विज्ञान धर्म तथा ईश्वर तीनों ही आवश्यक हैं। लौकिक जीवन के लिए जहां विज्ञान की आवश्यकता है वहाँ पारलौकिक जीवन के लिये धर्म की। लौकिक जीवन को पारलौकिक जीवन का साधन बनाने के लिये—ईश्वरोपासना—की।

ईश्वरोपासना को मानव जीवन को एक सफल बनाने वाला अनिवार्य्य कर्तव्य समझना और मानना चाहिये और फिर तदनुकूल जीवन-यापन करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य होना ही चाहिये।

ईश्वरोपासना का अधिकारी बनने के लिये

वेदोपदेश

विश्वानि दुरितानि परासुव

(हे मनुष्य ! तू पहिले अपनी बुराइयों को दूर कर।)

मानव समाज कई प्रकार की उलझनों में फँसजाने के कारण अपनी मानसिक दुर्बलताओं का शिकार बना हुआ है। जिनमें से कतिपय निम्न-लिखित हैं :—

(१) जाति-पाति का आडम्बर, (२) ज्योतिषियों द्वारा उत्पन्न किया हुआ ग्रहों का भय, (३) देवी-देवताओं पर आश्रित रहना, (४) भूतों प्रेतों का भय ॥

स्वार्थी व्यक्तियों ने हिन्दु जातिपर ऐसा जाल बिछाया है कि जन्म लेने के दिन से प्राणान्ततक पीछा नहीं छुटता; तत्फलस्वरूप हिन्दु जाति दिन पर दिन पुरुषार्थहीन बनती चली आ रही है। जबतक इनसे छुटकारा पाकर उनमें निभर्यता उत्पन्न नहीं होगी, तबतक कोई प्राणी भी ईश्वरोपासना का सच्चा अधिकारी नहीं बन सकेगा। इनसे छुटकारा पाने पर ही ईश्वरो पासना से लाभ उठाया जा सकेगा।

प्रथम अवगुण

जाति-पातिका आडम्बर

(मानवता के सीमित होने का कारण)

मनुष्य ने संसार में आकर मानव जाति को — देश, व्यवसाय, सम्प्रदाय तथा संस्थाओं के——रूप में लाकर अनेक भागों में विभाजित करडाला और फिर विभाजन के अनुकूल आचार-विचारों में असमानता उत्पन्न करडाली, तत्फलस्वरूप मानव जाति में एकता न रहने के कारण प्राणियों के हृदय में ईर्षा और द्वेषने डेरा डाललिया और फिर एक दूसरे से संघर्ष भी छेड़ दिया। तत्फलस्वरूप अशान्ति ने भी जन्म ले लिया। तत्पश्चात् यह अशान्ति विश्व के कोने-कोने में फैलगई। इससे न तो कोई प्राणी बचा, न कोई संस्था और न कोई देश। इस अशान्ति ने फिर तो विश्व को ही अपना क्रीड़ास्थल बनालिया।

मनुष्य मात्रका अब यह एक पुनीत कर्त्तव्य है कि इस मानसिक दुर्बलता को दूर करें। विश्व के प्राणी मात्र उस परमपिता परमात्मा के पुत्र और पुत्रियां होने के नाते सबही भाई और बहिन हैं। उस परम पिता परमात्मा ने मनुष्य जाति को ही सर्व श्रेष्ठ बनाकर उसे बुद्धि प्रदान की है। मनुष्य वही है जो बुद्धिसे काम लेकर इस मानसिक दुर्बलता को दूर करदे।

मानव जाति एक थी, किन्तु आज न मालूम कितने टुकड़ों में विभाजित हो चुकी है। फिर देश देशान्तरों के नामपर भी मानव जाति के टुकड़े-टुकड़े हो गये। व्यवसायों में भी मानव जाति को ऐसा रगड़ा है कि एक व्यवसाय का व्यक्ति दूसरे व्यवसाय के व्यक्ति से सम्बन्धतक रखना नहीं चाहता।

महापुरुषों के विचारानुकूल अनेक संस्थाओं ने भी जन्म लेकर पारस्परिक ईर्षा और द्वेषकाही साथ दिया। कहते सब यही हैं कि हमारा उद्देश्य—

मानव सेवा—है। फिर यदि ऐसा ही है, तो फिर सब एक होकर उस परम पिता परमेश्वर के आदेशों का पालन क्यों नहीं करते ?

यदि मानव जाति में से यह बुराइं जाती रहे, तो प्रत्येक व्यक्ति एक पिताकी सन्तान होने के कारण निर्विकार बनजाय। फिर ही उस निर्विकार महाप्रभु से मेल बन सकेगा और उसकी उपासना का अधिकारी बनसकेगा।

द्वितीय अवगुण

ज्योतिषियों द्वारा उत्पन्न किया ग्रहों का भय

(मानसिक भावों पर दुष्प्रभाव)

ज्योतिष विद्या एक भौगोलिक ज्ञान है जो सूर्य्य मण्डल के अन्तर्गत चन्द्र, मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र तथा शनि आदि ग्रहों की गतियों को बतलाता है। ये सब हो जड़ हैं और पृथ्वी की भान्ति लोक हैं। उनमें अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। आज के विज्ञान ने तो वहां पहुंचकर सब ही बातें संसार के सामने प्रत्यक्ष कर दी हैं। कतिपय स्वार्थी व्यक्तियों ने भोली भाली जनता को ऐसा पथभ्रष्ट कर डाला है कि किसी के ऊपर शनि की दशा लादी, तो किसी के ऊपर मंगल की। उसे इतना डराते भी रहते है कि इन दिनों कोई कार्य्य किया, तो उसमें लाभ की अपेक्षा हानि होगी और यदि कार्य्य करना ही चाहते हो, तो इस ग्रह को शान्त करने के लिए इतना पुण्य करो। तत्फल स्वरूप मनुष्य पुरुषार्थ हीन बन गया। इन ज्योतिषियों ने अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये ग्रहों को भी घूसखोर बना दिया। यह सब कुछ भोले भाले आदमियों

को बहकाकर अपना उल्लू सीधा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह सब कुछ लोगों की मानसिक दुर्बलता का परिणाम है। इस बात ने मनुष्यों को इतना जकड़ दिया है कि जन्म से लेकर मरण पर्य्यन्त हिन्दूजाति का बच्चा तो इस चक्र से कोई बचा नहीं। ये ग्रह दूसरे मतमतान्तरों के पास जाते भी नहीं, केवल हिन्दुओं के ही शत्रु हैं। इस बुराई ने भी मनुष्य को पुरुषार्थ हीन और भीरु बना दिया है। अब समय आ गया है कि इस मानसिक दुर्बलता का शिकार न बना जाय।

मनुष्य की परिस्थितियाँ अच्छी या बुरी हो सकती हैं; किन्तु मनुष्य वही है जो परिस्थितियों से टक्कर ले और उन्हें अपने अनुकूल बना ले। ग्रहचक्र एक ऐसा आडम्बर है, जोभोले-भोले मनुष्यों कोही नहीं, किन्तुशिक्षित कहलाने वाले व्यक्तियों को भी स्वार्थी मनुष्यों ने उल्लू बनाने में पीछे नहीं रखा। ठीक तो यह है कि आर्य्य जाति की उन्नति में यह ग्रहचक्र सदैव से रोड़ा बना हुआ है। वस्तुतः यह केवल भूगोल का ज्ञान कराने वाली एक विद्या है, जिसे ज्योतिषियों ने लोगों के सिरमढ़कर अपना उल्लू सीधा किया है और करते हैं। इसबुराई को त्याग दो।

तृतीय अवगुण

देवताओं से याचना करना

(यह भी एक मिथ्या भावना है जो मानसिक दुर्बलता का प्रतीक है।)

मुक्तात्मायें ही देवी-देवता हैं। उन्होंने ईश्वर भक्ति द्वारा सन्मार्ग को ग्रहण कर प्रकृति देवी से छुटकारा पाया है और इस पद को प्राप्त किया है। प्रकृति तथा उससे बनी चीजों से अब उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। ऐसी मुक्तात्मायें मुक्ति की अवधि पूरी होने पर ही इस भौतिक

संसार में जनकल्याणार्थ जन्म लिया करती हैं। इनसे प्रकृति जन्य किसी भी पदार्थ के लिए याचना करना ऐसा ही है जैसा कि किसी हलवाई की दुकान पर जाकर कपड़ा खरीदना। उनकी प्रतिमा बनाकर पूजना भी उनकी हंसी उड़ाना और आर्य्य संस्कृति की निन्दा करना है। इस प्रकार से उनकी निन्दा ही नहीं होती है, किन्तु जनसाधारण को सत्पथ विचलित करना भी है। इससे बढ़कर पाप और क्या होगा ? किन्तु स्वार्थी व्यक्ति (पुजारी गण= पूजा के शत्रु) इन बातों पर क्यों ध्यान देने लगे हैं ?

इतिहास इस बात का साक्षी है कि विधर्मियों ने मन्दिर तोड़ें, मूर्तियाँ खण्डित की और वहाँ से सब कुछ लूटकर ले गये, किन्तु इन मूर्तियों के जूं तक न रैंगी। तनिक सोचिये तो सही कि जब ये मूर्तियाँ अपनी भी रक्षा न कर सकीं, तो दूसरों की रक्षा क्या करेंगी ? यह केवल एक ढोंग है, जो पुजारियों तथा उनके सहयोगियों ने इन देवी देवताओं की ओट में रहकर अपना उल्लू सीधा किया है और कर रहे हैं। यह सब कुछ मनुष्य की अपनी मानसिक दुर्बलता का ही परिणाम है।

इन देवी देवताओं से याचना न कीजिये; किन्तु उनकी उपासना कीजिये। याचना मनुष्य को नीचा गिराती है और उपासना ऊंचा उठाती है। इनकी उपासना की शैली भी निरालीहै। उनकी जीवनीका अध्ययन कीजिये और विचारिये कि किस प्रकार इन मुक्तात्माओं ने यह पदवी प्राप्त की है। यदि देव योनि में सम्मिलित होने की जिसकी भी इच्छा हो, वह इनके पद चिन्हों पर चलकर प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकते हैं; अत: देवी देवताओं से याचना करना भी ढोगी व्यक्तियों द्वारा प्रचलित एक मिथ्या शैली है, जिसका त्याग करना ही अब श्रेयस्कर है, क्योंकि यह भी मनुष्य की मानसिक दुर्बलता का ही पोषक है।

पूजा से तात्पर्य्य है—ईश्वर पूजा और अरिशत्रु, अर्थात् ईश्वर पूजा का द्वेषी।

चतुर्थ अवगुण

भूत-प्रेतों का भय

(यह भी मनुष्य की अपनी मानसिक दुर्बलता है।)

प्रत्येक प्राणी की मरने के पश्चात तीन गतियाँ हो सकती हैं:—

१—जिनके—प्रारब्ध कर्मों का—भुगतान उनकी आयु के अन्तर्गत ही हो चुकता है, वे तो—जन्म–मरण—से मुक्त होकर, देव योनि में चले जाते हैं और किसी अवधि तक जन्म नहीं लेते। ये तो देवता हैं। अब उनका किसी भी प्राणी से सम्पर्क नहीं रहता।

२—जिनके—प्रारब्ध कर्मों का—अभी भुगतान तो नहीं हुआ, किन्तु उनकी जीवन–अवधि (आयु) पूरी हो चुकी है। वे अपने कर्मानुसार दूसरा जन्म ले लिया करते हैं। ये सबही साँसारिक प्राणी हैं। ऐसे व्यक्ति जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।

३—जिनके प्रारब्ध कर्मों का अभी भुक्तान्न भी नहीं हुआ है और उनकी जीवन अवधि भी समाप्त नहीं हुई है, किन्तु किसी घटनाबिशेष के कारण उनके शरीर का अन्त हो गया हैं। ऐसी आत्मायें आयु अवधि पूरी होने तक कहीं भी जन्म नहीं लेतीं। वे हवा में इधर-उधर घूमती रहती हैं। इनको ही लोग—भूत–प्रेत—के नाम से पुकारते हैं। ये किसी को भी हानि नहीं पहुंचाती हैं, क्योंकि उन्हें कोई कर्म करने का अधिकार नहीं है। ऐसी ईश्वरीय न्याय व्यवस्था है।

लोगो ने इन भूत प्रेतों के विषय में गलत धारणायें बाँधी हुई हैं और मन गढन्त कहानियाँ बना बना कर लोगों को डराते रहते हैं और दूसरों को सुनाते रहते हैं। कुछ लोगों का अपनी वीरता प्रकट करने का स्वभाव भी बन गया

है; किन्तु यह है बहुत बुरी बात। ऐसे मनुष्यों से सावधान रहना चाहिए और उन्हें बतला देना चाहिए कि जब तुम ही उनसे नहीं डरे, तो हमें डरने की क्या आवश्यकता है ? स्वयं निर्भय और निडर बनो ओर दूसरो को भी ऐसा ही बनने की शिक्षा दों।

इस सम्बन्ध में ईश्वर की न्याय व्यवस्था ऐसी है कि जीवन अवधि का शेष भाग पूरा करके ये भी पुनः जन्म ले लेते हैं; किन्तु शरीर के अभाव में किसी के पास तक नहीं जा सकते, हानि पहुंचाना तो दूर रहा और उनकी कोई आकृति भी नहीं होती है। दूसरों को डराने के लिए लोगो ने मन घडन्त गाथायें बना रखी है और कुछ नहीं।

यद्भद्रम् तन्न आसुव

उपासक की महाप्रभु से यही प्रार्थना है कि वह आयुपर्य्यन्त तो आत्म-भाव में रहे और प्राणान्त पर मुक्तात्माओं में जाकर सम्मिलित हो जाय, तदर्थ-मेधाबुद्धि-के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है।

जब मनुष्य अपनी बुराइयों का त्याग कर देता है, तब उसकी मानसिक दुर्बलता स्वतः ही नष्ट हो जाया करते हैं। सारी बुराइयों की जननी—स्वार्थ वृत्ति—ही है। जब मनुष्य स्वार्थ का त्याग कर देता है, तब जन कल्याण की भावनायें उसमें स्वतः ही उत्पन्न हो जाया करती हैं। ऐसी स्थिति में पहुंचने पर ही मनुष्य—आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी तथा छल कपट से—रहित बना करता है। जब मनुष्य इस निर्विकार अवस्था पर पहुंच जाता हैं, तब उसका मेल उस-निर्विकार महाप्रभु से—बन जाया करता है, किन्तु यह ध्यान रहे कि जैसे अग्नि में पड़े हुए अग्नि रूप लोहे को बाहर निकालने पर और फिर ठन्डा हो जाने पर अपना असली रूप धारण कर लिया करता है, वैसी ही जीवात्मा भी अहंकाराग्नि में पड़ कर—आत्म भाव से जीव भाव में—उतर आया करती है और जीवन मुक्त अवस्था से हाथ धो बैठती है; अतः सदैव ईश्वरोपासना में जुटा रहना चाहिये ताकि उस साधक का जीव-भाव आत्म भाव का आनन्द ही लेता रहे। जिस साधक ने इस आनन्द को एक बार अनुभव कर लिया, उसकी इच्छा सदैव इसी में बने रहने की हुआ करती है। अब ईश्वर भक्त की एक यही इच्छा होती है और ईश्वर से प्रार्थना भी यही किया करता है कि उसे—मेधाबुद्धि—को प्राप्ति हो ताकि प्राणान्त पर परम पद प्राप्ति का अधिकारी बन जाये।

परमपद-प्राप्ति के लिए ईश्वरोपासना ही साधन है ।

ईश्वरोपासना की चार शैलियाँ होती हैं:—

(१) सगुण उपासना; (२) निर्गुण उपासना,
(३) साकार उपासना (४) निराकार उपासना ।

(१) ईश्वर की सगुण उपासना की शैली

यदि मनुष्य अपने दैनिक कार्यों में ईश्वर को—सर्वव्यापी शक्तिशाली तथा न्यायकारी—मानता हुआ उन्हें सम्पादित करता रहे, तो इस शैली का नाम ही—ईश्वर की सगुण उपासना है । मनुष्य कहता तो रहता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है; किन्तु अमानुषिक कर्म करते हुए उसे व्यावहारिक रूप नहीं देता । उस समय वह सोचता है कि मेरे इस कुकर्म को कोई नहीं देख रहा; किन्तु वह यह बात भूल जाता है कि वह महाप्रभु जो सर्वव्यापी, उसके इस अमानुषिक कर्म का साक्षी बन गया है ।

इस बात के कहने वाले तो बहुत हैं कि—ईश्वर सर्वव्यापी—है किन्तु घटना स्थल पर ध्यान रखने वाला कोई विरला ही मनुष्य होता है जो यह ध्यान रखता हो कि वह सर्वव्यापी महाप्रभु यहाँ भी उपस्थित है, और उसके इस कुकर्म को देख रहा है । जिस व्यक्ति ने ईश्वर की सर्व व्यापकता को केवल मौखिक रूप ही नही दे दिया है, किन्तु उसे अपने दैनिक कार्यों में व्यावहारिक रूप भी देता है । उसके सामने कुकर्मों का प्रलोभन आने पर भी वह उसे कदापि सम्पादित नहीं करता, तत्फलस्वरूप धीरे-धीरे उसके सब ही कुकर्म छूट

जाते हैं। ऐसा व्यक्ति एक दिन आन्तरिक सदाचारी बन जाया करता है, अर्थात अब उसके द्वारा कोई अमानुपिक कर्म सम्पादित होने की सम्भावना भी नहीं रहती। इस प्रकार वह व्यक्ति पक्का आन्तरिक सदाचारी बन जाता है। आन्तरिक सदाचारिका ही मेल उस निर्विकार महाप्रभु से हुआ करता है।

ईश्वरोपासना की यह शैली मनुष्य मात्र के लिए बड़ी ही उपयोगी और व्यावहारिक है। यह शैली मनुष्य के लौकिक जीवन को ही पारलौकिक जीवन का साधन बना दिया करती है। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन काल में ही—आत्म भाव— में पहुंच जाया करता है और प्राणान्त पर—परमपदप्राप्त—किया करता है। सांसारिक व्यक्तियों के लिए—ईश्वर की—सगुण उपासना की शैली—एक अमोघ अस्त्र है।

ईश्वर जहाँ सर्वव्यापी है, वहाँ शक्तिशाली भी है।

एक चोर यदि चोरी करता है, तो उसके मनमें यह भाव भी रहता है, कि मैं इस राज्य से भागकर दूसरे ऐसे राज्य में चला जाऊँगा, जहाँ के राजा को यहाँ के राजा से शत्रुता है वह मुझ बचालेगा। इस प्रकार उसके बचने की सम्भावना भी है; किन्तु वह महाप्रभु तो चक्रवृति राजा है, अर्थात् समस्त विश्व में उसका शासन है और सर्वव्यापी होने के नाते वह सर्वत्र विद्यमान भी है। फिर उस महाप्रभु से वह चोर कैसे बच सकता है।

जिस व्यक्ति ने इस विषय को भली प्रकार समझ लिया है, उससे कोई कुकर्म होगा ही नहीं। इस प्रकार का भाव उसके हृदय में आनेपर भी वह उस कुकर्म के प्रभाव में नहीं आयेगा। धीरे २ वह व्यक्ति स्वार्थ त्यागी, और परोपकारी बनकर एक सच्चा सदाचारी बन जायेगा। दो समान गुणवालों का ही पारस्परिक मेल हुआ करता है। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन काल में ही जीवन-मुक्त अवस्था तक पहुंच जाया करता है। और प्राणान्त पर देवयोनि में पहुंच जाता है।

ईश्वर शक्तिशाली ही नहीं, वह सर्वज्ञ भी है।

चोर इसलिये भी चोरी करता है कि यह पकड़ गया, तो वह अपने पक्ष में कोई ऐसा साक्षी न्यायधीश के सम्मुख उपस्थित करदेगा कि उसके बयान पर न्यायाधीश उसे छोड़ देगा या कोई ऐसा वकील अपने पक्ष में खड़ा कर लेगा जो अपनी वाक्-पटुता से उसे अपराध की सीमा से बचा लायेगा या वह न्यायाधीश को ही घूँस देकर अपने पक्ष में बनालेगा। इन कारणों से एक चोरके मनमें बचजाने की बहुत कुछ सम्भावना रहती है; किन्तु ईश्वर का चोर कैसे बचेगा, जबकि उसने स्वयं उसे कुकुर्म करते हुये देखा है, इसलिये उसके न्यायालय मे किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं। उसके न्यायालय में घूँस चलती नहीं, क्योंकि घूँस दी जा सकती है, साकार को, किन्तु वह महाप्रभु तो निराकार है। फिर वह महाप्रभु है--सर्वज्ञ।—वह अपने कार्य्य में भूल नहीं करता, अर्थात् जिसके नियमानुसार यह सारा विश्व काम कर रहा है, उससे भूलकी कोई आशा नहीं।

उपरोक्त कारणों से प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मानुसार ही दण्ड मिला करता है। जब मनुष्य की समझ में ईश्वर के तीनों गुण साक्षात्कार में सामने आ उपस्थित होते हैं, और मनुष्य किसी प्रकार भी उनकी अवहेलना नहीं करता। फिर उससे किसी कुकुर्म की भी सम्भावना नहीं रहती। ऐसा व्यक्ति आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी तथा छलकपट से रहित बनजाया करता है। ऐसे व्यक्ति का ही मेल महाप्रभु से हुआ करता है। यही उपासना की व्यावहारिक रीति भी है। इस उपासना की शैली से लोक और परलोक दोनों ही सुधर जाया करते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन काल में ही जीवभाव से आत्मभाव में पहुंच जाया करता हैं और प्राणान्त पर परमानंद प्राप्ति का अधिकारी बनजाया करता है।

ईश्वर की निर्गुण उपासना

शरीर में दो राज्य हैं—(१) आत्म-राज्य—(अन्तर्जगत्),—(२) स्वभाव-राज्य (वहिर्जगत्)। आत्म-राज्य की बागडोर जीवात्मा के हाथ में है

और इस राज्य का मन्त्री—बुद्धि—है। स्वभाव-राज्य का प्रबन्ध—मन—के हाथ में है, जो जीवात्मा का प्रतिनिधि बनकर बहिर्जगत् का प्रबन्ध करने के लिये आया हुआ है। मनको जीवात्मा की ओर से इन्द्रियों से कार्य्य करवाने के लिये—प्राण—रूपी शक्ति मिली हुई है।

जीवात्मा के आदेश बुद्धि द्वारा मनके पास आते रहते हैं। इन आदेशानुसार कार्य्य करना या न करना मनकी इच्छा पर निर्भर है। मन द्वारा स्वभाव राज्य की बागडोर सभालने के पश्चात् शरीर से उसका ऐसा प्रेम हो गया है कि इस शरीर के—अस्तित्व—से ही मन यहाँ अपनी आवश्यकता का अनुभव किया करता है। तत्फल स्वरूप ही मन जीवात्मा के आदेशानुकूल चलने की अपेक्षा अपनी मनमानी करता रहता है, क्योंकि मनका शासन काल शरीर के रहते हुये तक ही है।

इस मनोवृत्ति का नाम ही—स्वभाव—है, जो—काम, क्रोध, लोभ मोह और अहंकार का—सामूहिक रूप है। इस स्वभाव-राज्य का बदलना ही—ईश्वर की निर्गुण उपासना—कहलाती है। स्वभाव बदला जाता है—मानसिक वृत्तियों—(काम, क्रोधादि) के नाश करने से। इस बदलने की विधि को ही—मनसा परिक्रमा—कहते है। कोई विरला ही इस स्वभाव राज्य से छुटकारा पाया करता है, क्योंकि स्वभाव ही मानसिक प्रवृत्ति है।—महात्मा तुलसीदास—और—महर्षि बाल्मीक—इसके प्रज्वलित उदाहरण हैं।

—०—

ईश्वर की निर्गुण उपासना की शैली

(मनसा परिक्रमा ही स्वभाव राज्य में पहुँचने का साधन है।)

मन सब मनुष्याणां कारणं वन्ध मोक्षयोः

मन ही इस ससार का उत्पन्न करने वाला चलाने वाला है। मन के शान्त होते ही जीवात्मा को परम शान्ति प्राप्त हो जाया करती है। मन संसार रूपी माया चक्र की नाभि है। वल और बुद्धि द्वारा इस नाभि चक्र को घूमने से रोकने पर संसार चक्र की गति भी रुक जाया करती है। मन को जीतने पर सब कुछ जीत लिया जाता है। मन अन्तः करण[1] का नीचे का संसार मुखी द्वार है और चित्त ऊपर का आत्माभिमुखी। चित्त के शुद्ध होते ही सारा अन्त:करण ही शुद्ध हो जाया करता है।

मनुष्य का मन जब तक वहिर्जगत् में रहता है, तव तक वह अपने सम्बन्धियों से ममता-मोह में फँसा रहता है, अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये धनी मानी व्यक्तियों से मित्रता करता रहता है। अपनी काम-वासनाओं की पूर्ति के लिये वैद्य और डाक्टरों के द्वार खटखटाता है; किन्तु कामवासनाओं की पूर्ति के

१—अन्तःकरण चार तत्वों से वना हुआ है—मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार—मन किसी विषय का मनन करता है। बुद्धि उसका निर्णय किया करती है। चित्त पर वह फिर भाव आकर अंकित होता है। फिर अहंकार की नींव पड़ती है। अहम्भाव से जीवात्मा के लिए वन्धन वन जाता है। फिर उस बन्धन का फल जीव को भोगना ही पड़ता है। यही संसार गति है। ईश्वर की इसी न्याय व्यवस्था पर यह संसार टिका हुआ है।

अभाव में क्रोध से जलता रहता है और पूर्ति हो जाने पर अहंकार में आ जाता। ये सब भाव जीवात्मा के लिये बन्धन है।

मन जब अन्तर्जगत् में चला जाता है, तब वह निर्मोही व्यक्तियों के संपर्क से मोह को त्याग देता है। अब वह सारे ससार को ही अपना कुटुम्ब समझने लगता है। विभक्त जनो का सत्संग कर फिर लोभ का भी त्याग कर डालता है। सन्यासियों के उपदेश सुनते-सुनते उसकी कामवासनायें भी जाती रहती हैं। योगियों के साथ सहवास से उसका क्रोध भी शान्त हो जाता है। फिर ब्रह्म ज्ञानियों के सत्संग से उसका अहंकार भी नम्रता का रूप धारण कर लिया करता है। जीवनमुक्त महात्माओं के सम्पर्क में रहकर वह एक दिन स्वयं भी जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लिया करता है।

मन के शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होते ही सारा अन्तःकरण ही बदल जाया करता है। अन्तःकरण की शुद्धि पर ही स्वभाव राज्य से छुटकारा मिला करता है। मन के स्वभाव से छुटकारा पाने पर ही—भगवद्भक्ति—का जन्म हुआ करता है। यही—मनसा परिक्रमा—का फल है और इस शैली को ही—ईश्वर की निर्गुण उपासना—कहते हैं।

मनसा परिक्रमा

जिस मार्ग से आत्म राज्य से मन स्वभाव राज्य में आया था उसी मार्ग से लौटने की क्रिया का नाम—मनसा परिक्रमा है।

स्वभाव राज्य की मानसिक वृत्तियाँ

(१) मोह

जब मनुष्य यह समझ लेता है कि महापुरुषों द्वारा प्रचालित मतमतान्तरों में सच्ची शान्ति नहीं है. तब वह ईश्वरीय आदेशों अर्थात वैदिक धर्म की ओर आया करता है। अब उसे ईश्वर-भक्ति की अभिलाषा तो रहती है; किन्तु इस समय उसे—मोहमयी अज्ञानता—सताया करती है, जो उसे —ईश्वर-भक्ति—पर जमने नहीं देती। यह मोहमयी अड़चन उसे अपने कुटुम्बियों की ओर से और धन सम्पत्ति की ओर से सदैव ही उपस्थित होती रहती हैं।

इस अज्ञान जनित मोह से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान ही एक मात्र साधन है। जिसकी प्राप्ति निर्मोही आदित्य पुरुषों के आदेशों का अनुकरण करने से ही हुआ करती है। उनके सत्संग तथा उन्हीं के सहवास में रहने की आवश्यकता है, जो उसे कुटुम्बियों के मोह से मुक्त करा सकता है।—वसुधैव कुटुम्बकम्—की शिक्षा इन्हीं सत्-पुरुषों से मिला करती है और उनके आदेशों का अनुकरण करने से ही—मोह-जाल—से पीछा छुटा करता है।

(२) लोभ

जब मनुष्य आदित्य गुरुजनों का सत्संग करने लगता है, तब उसका अज्ञान तो जाने लगता है और ज्ञान में कुछ वृद्धि होने लगती है। इस समय

कुछ शिक्षित कहलाने का अधिकारी बन जाता है; तत्फलस्वरूप वह मोह से निकलकर लोभ में आ फँसता है। उसका जीवित पदार्थों के ऊपर से तो मोह जाता रहता है; किन्तु जड़ पदार्थों पर उसकी ममता और भी अधिक हो जाया करती है। यही—लोभ—है, जो सारे पापों का जन्मदाता है। लोभ की पुष्टि करने वाला—ऐश्वर्य्य—ही है; इसीलिये लोभी जनों के प्रेमी धनी मानी व्यक्ति ही हुआ करते हैं। लोभी की भावना का नाश निर्मोही जनों के सत्संग, सहवास तथा उनके उपदेश से ही हुआ करता है।

(३) काम वासना

जब मनुष्य मोह और लोभ से छुटकारा पा लिया करता है, तब उसे काम वासनायें आ दबाया करती हैं। इस दशा में मनुष्य की बहिर्मुखी वृत्तियों का काम करने लगती हैं। फिर वह सदैव सुन्दर-सुन्दर जीवित प्राणियों से प्रेम करने लगता है। बस ! चरित्र के नाश करने में केवल कामदेव ही पर्य्याप्त हैं। काम वासनाओं का पोषक—वीर्य्य—होता है और इस विषय में यही सर्वेसर्वा भी है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति कामदेव के फन्दे में फँस गये, वे चाहे राजा थे या साधारण व्यक्ति, सब ही नष्ट हो गये। इस कामदेव पर विजय पाने के लिए— संन्यासियों—का सत्संग और उनके उपदेशानुकूल अपना आचरण बनाना चाहिये, क्योंकि कामदेव ने यदि किसी से हार मानी है, तो वे हैं—सन्यासी—संन्यासी कहते ही उसे हैं जिसने समस्त वासनाओं का नाश कर दिया है।

(४) क्रोध

संन्यासियों का सत्संग करने से और उनके उपदेशानुसार चलने से मनुष्य के हृदय से काम वासनायें तो धीरे-धीरे नष्ट हो जाया करती हैं और फिर उसके हृदय में—ईश्वर-भक्ति—की चाह जाग्रत हो उठती है। तत्फलस्वरूप

ईश्वर में श्रद्धा भी बढ़ने लगती है और साधक फिर सत्यता पर आरूढ़ हो उसी के प्रचार में जुट जाया करता है; किन्तु सफलता के अभाव में–क्रोध–आया करता है। क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। क्रोध के दबाने का केवल एक ही साधन है और वह है–शान्ति–यह शान्ति केवल योगियों के सत्संग, सहवास तथा उनके उपदेशानुकूल चलने से ही प्राप्त हुआ करती है। ऐसा व्यक्ति फिर योगियों की खोज में जगह-जगह पहुंचकर और उनसे संपर्क स्थापित कर शान्ति का अनुभव करने लगता है। क्रोध पर विजय पाने की यही एक रीति है।

(५) अहंकार

जब मनुष्य सत्वगुण क्षेत्र (आज्ञाचक्र) में पहुंच जाता है, तब उसे–अहंकार–आ दबाया करता है। जैसे ईश्वर-सत्ता सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई है, वैसे ही अहंकार ने भी सारे शरीर पर अधिकार जमाया हुआ है। यदि अहंकार नष्ट हो जाय, तो यह शरीर ही न रहे, इसलिए अहंकार का नाश करना तो आवश्यक नहीं, किन्तु इसे नम्रता में परिवर्तित करना अनिवार्य है।

यह अहंकार नम्रता में ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति पर ही बदला करता है और ब्रह्म ज्ञान ब्रह्म ज्ञानियों के सम्पर्क में रहने से ही प्राप्त हुआ करता है। जिन्होंने प्रकृति से लेकर ब्रह्मज्ञान तक को साक्षात किया हुआ है। उनके उपदेशानुकूल चलने से ही अहंकार नम्रता में बदल जाया करता है। जब साधक अपने तपोबल से काम-क्रोधादि को जीत लिया करता है, तब वह अपनी अन्तिम ज्ञान निष्ठा पर पहुंच कर चक्रवृत्ति राजा की भांति बन जाया करता है।

ब्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति और उसकी रक्षा के साधन ॥६॥

(जीवन मुक्त अवस्था)

जब साधक सबसे ऊँची अवस्था पर पहुंच जाता है, तब उसे न तो मोह सताता है, न लोभ और न काम-क्रोधादि, यहाँ तक कि उसका अहंकार भी नम्रता में बदल जाया करता है। इस दशा में वह ईश्वर-भक्त एक ऐसी अवस्था में जा पहुंचा करता है कि फिर वह निरन्तर भक्तिरूपी अमृत के समुद्र में ही गोते लगाता रहता है। अब उस पर किसी भी प्रकार से प्रकृति का बन्धन नहीं रहता।

अब वह प्रकृति को भी विजय कर लेता है अर्थात प्रकृति का उस पर प्रभाव नहीं जमता। वह बृहस्पति के समान ज्ञान का अधिष्ठाता, वाणी का स्वामी और विद्या का भण्डार बन जाता है। बस ! यही साधक की जीवन-मुक्त अवस्था होती हैं, जो मन द्वारा स्वभाव राज्य के त्यागने पर ही प्राप्त हुआ करती है। इसे ही अन्तः करण की वास्तविक शुद्धि कहते हैं। मन की काम-क्रोधादि वृत्तियाँ मिलकर ही स्वभाव बना करता है। मनुष्य इनमें से किसी का भी शिकार क्यों न हो जाय, उससे छुटकारा पाना कोई बच्चों का खेल नहीं। कोई विरला ही होता है जो अपने स्वभाव को त्याग कर आत्म राज्य में पहुंच कर–ईश्वर-भक्ति–में तल्लीन हुआ करता है। इस शैली का नाम ही–ईश्वर की निर्गुण उपासना–है।

ईश्वर की साकार उपासना ॥३॥

(तन, मन तथा धन से जन सेवा)

समस्त ब्रह्माण्ड ही उस महाप्रभु का साकार रूप है। इसमें जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थ हैं। उनमें चेतन भी दो प्रकार का है (१)जीवात्मा, (२) परमात्मा। जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ। जीवात्मा अपने कर्मानुसार उस महाप्रभु की न्याय व्यवस्था के आधार पर संसार में आती-जाती रहता है।

जीवात्मा ने संसार में मानव शरीर कर अपने महापुरुषों के आदेशो को ठीक-ठीक न समझने के कारण मानव जाति को मत-मतान्तरों में विभाजित कर डाला, तत्फलस्वरूप मानवता का तो गला घुट ही गया और मनुष्य-मनुष्य से ईर्षा और द्वेष भी करने लगा। मानव जाति जो सब ही जीवधारियों में श्रेष्ठ थी, अपनी शान्ति को खो बैठी। चाहिये तो यह था कि मनुष्य अपने धन, बल तथा ज्ञान द्वारा दूसरे मनुष्यों की सहायता कर उन्हें भी सुखी बनाता। जो व्यक्ति संसार में दूसरे मनुष्यों की बिना किसी भेदभाव ने धन, बल तथा ज्ञान द्वारा सहायता करते हैं, वे ही सच्चे रूप में ईश्वरोपासना करते हैं और इस शैली को ही–ईश्वर की साकार उपासना–कहते हैं। राष्ट्रोन्नति के लिए यह शैलीअति सुगम तथा सर्वहितकारी भी है।

ईश्वर की निराकार उपासना ॥४॥

(की दो शैलियाँ होती हैं)

(१) जन साधारण के लिए, (२) योगी जनों के लिए

जन साधारण के लिये

इस शैली का अनुकरण करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—

(१) प्राण को अन्तजगत में ले जाने के लिए नाभि चक्रस्था चित्रा नाड़ी को खोलना पड़ता है, ताकि स्थूल-प्राण सूक्ष्म-प्राण में बदल जाय। इसके लिए श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ—ओ३म्—का जाप किया जाय, ताकि प्राण मन से पृथक होकर वहिर्जगत से अन्तर्जगत में चला जाय। ऐसा होना उसी दशा में सम्भव है, जबकि मनुष्य अपने श्वास-प्रश्वास को जो २४ घण्टे में २१६०० आते और जाते हैं, कुम्भक की सहायता से, इस संख्या को २००० पर ले आये। फिर चित्रानाड़ी का द्वार खुल जाता है। ऐसा होते ही वहिर्जगत का सम्बन्ध अन्तर्जगत से बन जाता है।

(२) फिर प्राण प्राणायाम की सहायता से वहिर्जगत से अन्तर्जगत में आ जाता है। फिर मन भी वहिर्जगत से चलकर अन्तर्जगत में चला आयेगा क्योंकि मन प्राण के बिना वहिर्जगत में अकेला ठहर नहीं सकता। इस प्रकार प्राण के पीछे-पीछे चलने पर मन अपनी काम-क्रोधादि वृत्तियों से हाथ धो बैठता है। ज्यों-ज्यों सूक्ष्म प्राण ऊर्ध्वरेता होता जाता है, त्यों-त्यों मन भी अपनी कुचालों का त्याग कर पवित्र बनता जाता है। अब प्राण को प्राणायाम की सहायता से आज्ञा चक्रस्थ

जीवात्माओं के पास पहुंचाकर उसकी यह प्राण रूपी धरोहड़ वापिस लौटा दीजिए, ताकि मन भी अपने स्वामी जीवात्मा के समक्ष उपस्थित होकर एक सच्चे सेवक की भाँति उसकी सेवा करने लगे। इस दशा में मन के अधिकार छिन जाने के कारण, वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाया करता है। अब प्राणायाम की सहायता से सहस्रार चक्रस्थ ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों की अन्तिम आहुति दे दीजिये, ताकि जीवात्मा को उसके सखा परमात्मा से मिलने का सुअवसर प्राप्त हो जाय। यही जीवात्मा की जीवन मुक्त अवस्था कहलाती है।

यदि प्राणी अपनी शेष आयु में इसी प्रकार जीवन मुक्त अवस्था का आनन्द लेता रहा और बीच में उसे किसी मानसिक प्रलोभन ने नीचे खींच नहीं लिया, तो वह प्राणान्तपर परमपद प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। यह शैली है जिसे साधक अपनाकर देवयोनि प्राप्त कर लेता है। इसे ही ईश्वर की निराकर उपासना—कहते हैं।

याद रखिये

१—ओ३म्—का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है।

२—प्राणायाम का विस्तृत वर्णन—ब्रह्मचर्य्य रक्षा ही जीवन है—नामक पुस्तक में पढ़िये। मूल्य २)

३—यौगिक शैलीका विस्तृत अध्ययन—'श्रीगीता त्रिवेणी में—कीजिये मूल्य ५)

४—आत्मा का परमात्मा से मेल—वैदिक सन्ध्या—में पढ़िये। मूल्य ३)

५—जीवन सफल कैसे हो?—तथा—सुख और शान्ति कैसे प्राप्त हो?
मूल्य १) मूल्य २)

सब पुस्तकों पर डाकखर्च ५) अलग

नोट—५) पेशगी आने पर ही पुस्तकें भेजी जाती हैं।

पुस्तकें मिलने का पता—

१—योगाश्रम, प्लाट नं० ९७, आर्य्य नगर, अलवर (राजस्थान)

२—पं० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा B. Com, मोहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)

(२) योगियों के लिए उपासना की शैली

इस शैली की आवश्यकतायें

१--स्थूल प्राण को सूक्ष्म प्राण में बदलकर चित्रानाड़ी का द्वार खोलना,

२--कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति--(आत्मज्ञान का आरम्भ)

३--षट्चक्र भेदन क्रिया,--(ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति)

४--समाधि (मन और प्राण का जीवात्मा के पास पहुंचना)

श्वास-प्रश्वास क्रिया के साथ-ओ३म्-का जाप करने पर जब चित्रा नाड़ी द्वार खुलजाता है, तब वहिर्जगत् का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से बन जाया करता है, या यों कहिये कि स्थूल-प्राण सूक्ष्मप्राण में बदलते ही मन, बुद्धि के द्वारा लाये हुये आत्मा के आदेशनुसार चलने लगता है। यही समय है जबकि कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति होकर साधक को आत्मज्ञान का आरम्भ होने लगता हैं। साधक की पियासा भी अब आत्मज्ञान के प्रति बनने लगती है। आत्मा भी साधक को अपनी ओर खींचने लगती है, किन्तु बीच का मार्ग (षट्चक्र-भेदन) बड़ा ही विकट संकटमय होता है। इसे पार करना कोई बच्चों का खेल नहीं।

षट् चक्र-भेदन करते हुये अर्थात् मणिपुर, अनाहत और विशुद्धि चक्र भेदन करते हुये कोई विघ्न बाधा मार्ग में उपस्थित न हुई और साधक ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभनों में न पड़ा, तो एक दिन साधक आज्ञाचक्रस्थ आत्मा के पास पहुंच प्राणरूपा शक्ति उसे लौटा देता है और मन भी अपने स्वामी आत्मा

के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस दशा में मन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाया करता है। अब मन जीवात्मा का सच्चा सेवक बनकर काम करने लगता है। साधक की इस दशा कोही--सम्प्रज्ञात समाधि--कहते हैं।

अब साधक यदि प्राणायाम की सहायता से प्राणों की अन्तिम आहूति सहस्रार चक्रस्थ ब्रह्मरन्ध में दे देता है, तो जीवात्मा का परमात्मा से मेल हो जाता है। यहाँ जीवात्मा आनन्द में मग्न हो जाया करता है। साधक की इस स्थिति का नाम ही--असम्प्रज्ञात समाधि--है। अब साधक का जीवभाव आत्मभाव में बदल जाता है। यदि साधक प्राणान्त तक अर्थात् आयु समाप्ति तक इसी स्थिति में बनारहा, तो अन्तिम समय परमपद प्राप्ति का अधिकारी बन देवयोनि को प्राप्त कर लिया करता है। यही साधक के लिये मुक्ति प्राप्ति है।

इस विषय में वेदाज्ञा

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।

अग्निम्—जब साधक सूक्ष्म प्राण को स्वाधिष्ठान पर लाकर ज्ञानेन्द्रियों की सिचाई कर देता है, तब उसको आत्मज्ञान होना आरम्भ हो जाता है। इस दशा में—यज्ञस्यदेव—जीवका इष्टदेव ब्रह्म उस साधक को—पुरोहितम्—सामने आज्ञाचक्र में स्पष्ट दीख पड़ता है।—होतारम्--साधक की इस दशा में उस अपने इष्टदेव तक पहुंचने की तीव्र इच्छा हो आती है और आत्मारूपी ब्रह्मकी आकर्षणी शक्ति साधक को अपने पास आने के लिये आह्वान करती रहती है, किन्तु--ऋत्विजम—वहाँ तक पहुंचने का मार्ग कोई सरल नहीं। बड़ा ही विकट तथा संकटमय है। यदि साधक—ईले—निरन्तर अपने इष्ट-देवपर ध्यान जमाये रखा और मार्ग में प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियों के फेर में न पड़ा तो अन्तिम ध्येयपर पहुंच कर--रत्नधातमम्--सर्व श्रेष्ठ रत्न अर्थात् आत्म-

भाव में पहुंच जाता है और प्राणान्त पर देवयोनि को प्राप्त हो जाता है। यही ईश्वर की निराकार उपासना का फल है, जिसे इस मार्ग से केवल योगिजन ही प्राप्त किया करते हैं।

याद रखिये—

उपरोक्त सब विधियों का वर्णन--गीता त्रिवेणी—में पढ़िये। मूल्य १८ अध्याय का ५) डाकखर्च ३)। ८) पेशगी आने चाहिये।

पुस्तकें मिलने का पता—

श्री स्वामी योगानन्द सरस्वती, योगाश्रम, प्लोट ९७ आर्यनगर-अलवर

ईश्वरोपासना के पहले मन्त्र पर

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ।

गुरु–शिष्य–सम्वाद

शिष्य—गुरु के चरणार विन्दों में सादर नमस्ते !

गुरु—बच्चे ! आयुष्मान भव !

शिष्य—गुरुजी यह तो बतलाइये—उपासना—किसे कहते हैं ?

गुरु–बच्चे ! जब मनुष्य ईश्वर के गुणों को अपने जीवन का अंग बना, अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये, उसी के तद्वत् निर्विकार बनजाता है, तब उसे जीवन—मरण से मुक्ति भी मिल-जाया करती है । अभ्यास की इस शैली का नाम तो—उपासना—है और इसके फलका नाम—मुक्ति—है और अभ्यासी को—उपासक—कहते हैं ।

शिष्य—गुरुजी ! लोग ईश्वर की उपासना तो नहीं करते, वे तो देव-ताओं की उपासना किया करते हैं । इसमें क्या रहस्य है ?

गुरु—बच्चे ! देवी देवता तो मुक्तात्मायें हैं । उनके गुणों को अपने जीवन का अंग बनाने से भी उपासना की ओर बढ़ना है । बच्चे ! इनकी उपासना से मुक्ति तो नहीं मिलती । यह ज्ञान अवश्य हो

जाता है कि देवयोनि कैसे प्राप्त होती है ? मुक्ति तो ईश्वरोपासना से ही उपलब्ध होती है ।

शिष्य—गुरुजी ! लोग देवताओं की उपासना तो नहीं करते, वे तो उनसे याचना किया करते हैं । क्या उनसे याचना करना ठीक है ?

गुरु—बच्चे ! देवताओं से याचना करना तो मनुष्यों की एक भारी भूल है वे तो मुक्तात्मायें हैं । उनके पास देने को कुछ नहीं । उन्होंने तो मुश्किल से प्रकृति से पीछा छुड़ाया है । याचना भी यदि करनी ही है, तो वह भी ईश्वर से ही हो, क्योंकि उसे—देव—कहते हैं ।

शिष्य—गुरुजी ! देव शब्द का अर्थ होता है ?

गुरु— बच्चे ! देव शब्द का अर्थ होता है–दिव्य गुणों से युक्त व्यक्ति दिव्य गुणों के भी दो भेद होते हैं :–

१—आध्यात्मिक दृष्टि से–उदार और दाता ।

२—भौतिक दृष्टि से–धन, बल और विद्या आदि ।

शिष्य—गुरुजी ! यदि देवी देवताओं से ही याचना करनी है, तो क्या हानि है ?

गुरु— बच्चे ! वे मुक्तात्मायें हैं । उनके पास देने लेने को कुछ भी नहीं है । केवल उनके चरित्र से शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य अपने को भी ऊँचा उठा सकता है । उनसे याचना करनी ऐसी ही है, जैसी कि एक हलवाई से कपड़ा खरीदना । ऐसा करने से उद्देश्य प्राप्ति तो नहीं होती । हाँ, याचक की मूर्खता अवश्य प्रदर्शित हो जाती है । वह परमेश्वर धन, बल और विद्या में अद्वितीय है । न उसके बराबर कोई धनवान है, न बलवान और न

विद्वान । उस परमेश्वर का स्वभाव भी उदार है और वह पूर्ण-दाता भी है । उसके द्वार से कोई भी आज तक खाली हाथ नहीं लौटा । हाँ ! इतना अवश्य करना पड़ता है कि मांगने वाले की लग्न हार्दिक हो और ईश्वर को अपना सहायक बनाने में परिश्रम अथक हो, तथा श्रद्धा अटूट हो ।

शिष्य—ईश्वर तो निराकार है । उसके पास रखा क्या है, जो किसी को कुछ देगा ।

गुरु — बच्चे ! वह ईश्वर—सवित:—कहलाता है जिसका अर्थ होता है—ससार का रचयिता—वह इस जगत का स्वामी भी है । संसार के सारे पदार्थ उसी के हैं । फिर भला ! ऐसी कौन सी वस्तु है, जो तुम चाहो, और वह परमेश्वर के पास न हो ? मेरा यह पूर्ण विश्वास है और दृढ़ता के साथ कह सकता हूं कि तुम्हारी प्रत्येक माँगने योग्य वस्तु उसके पास अवश्य है । यह भी याद रहे कि वह परमेश्वर बड़ा उदार और सबसे बड़ा दाता भी है । वह ऐश्वर्य्य का भण्डार भी है, इसीलिए तू केवल ईश्वर से ही याचनाकर; किन्तु याचना का विषय क्या हो ? इस बात को भली प्रकार सोच लें ।

शिष्य—गुरु जी महाराज ! यह तो बतलाइये कि याचना सम्बन्ध में सोचना क्या है ?

गुरु— बच्चे ! याचना के भेद होते हैं ।

१—भौतिक पदार्थों के प्रति याचना—जो धन-धान्य तथा पुत्र-पौत्रादि के लिए हुआ करती है और यह केवल लौकिक उन्नति के लिए लाभप्रद है ।

२—आध्यात्मिकता की उन्नति के लिये—मेधावृद्धि—की याचना जो केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए हुआ करती है ।

यह भी याद रहे कि भौतिक पदार्थों की प्राप्ति चाहे प्रारम्भ में सुखदायी क्यों न प्रतीत हो ? किन्तु अन्त में उन पदार्थों का नष्ट होना इतना दुःखदायी बन जाता है कि वे भाव उसके चित्तपट पर अंकित से सदैव उसके सामने नाचते रहते हैं। फिर वह दुःखदायी भाव संस्कार बनकर उसे जन्म जन्मान्तरों के चक्कर में डालते रहते हैं। ईश्वर ने मनुष्य को भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए तो इन्द्रियाँ और बुद्धि प्रदान कर रखी है । इन्द्रियों से मनुष्य काम करता रहे और बुद्धि से कार्य्य की रूपरेखा बनाता रहे। इन्हीं दोनों के मेल से—पुरुषार्थ—रूप शक्ति का जन्म हुआ करता है । पुरुषार्थ ही मनोवाञ्छित फल का दाता है; इसीलिये कहा भी है—

पुरुषार्थ ही इस दुनिया में, हर कामना पूरी करता है।
मन चाहा सुख उसने पाया, जो आलसी बनके पड़ा न रहा।

पुरुषार्थहीन व्यक्ति ही ईश्वर से भौतिक पदार्थों के लिये याचना किया करता है और फिर सांसारिक विषयों में सदैव के लिए लिप्त रहने के कारण जीवन लक्ष्य से वञ्चित रह जाया करता है सच है—

दुःखदायी हैं और शत्रु हैं, विषय हैं जितने दुनिया के।
पार हुआ भव सागर से, जो जाल में इनके फँसा न रहा।

शिष्य—गुरु जी ! बहुत अच्छा। अब मैं ईश्वर से ही याचना करूँगा।

गुरु— बच्चे ! मनुष्य की बुद्धिमत्ता भी ईश्वर से याचना करने में ही है; किन्तु वह याचना ऐसी हो जो सदैव के लिए सुखदायी हो और शान्तिदायी हो।

शिष्य-गुरु जी ! याचना का ऐसा विषय क्या हो जो सदैव के लिए सुखदायी और शान्ति प्रद भी हो ।

गुरु—हे बच्चे ! मनुष्य की याचना का विषय हो-यद्भद्रन्तन्न आसुव-अर्थात् जीवन में जो सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है वह मुझे प्राप्त हो जाय । हे ईश्वर ! मुझे तो सर्वश्रेष्ठ-सद्‌बुद्धि (प्रज्ञा) ही प्रतीत होता है, जिससे मैं इसी जीवन में शारीरिक दुःखों से छुटकारा, मानसिक चिन्ताओं से निवृत्ति और दैवी आपत्तियों से मुक्त मिल जाय ।

शिष्य-गुरु जी ! आपके सदुपदेशों से मेरी यह तो समझ मे आ गया कि ईश्वर से भौतिक पदार्थों के प्रति याचना नहीं करनी चाहिये । अब मेरी मनोवृत्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए जाग्रत हो उठी है; इसलिये आप कृपा करके मुझे मोक्ष प्राप्ति की रीति बतलाइये !

गुरु—हे बच्चे ! यदि मोक्ष ही चाहते हो, तो पहिले मोक्ष के अधिकारी बनो । मोक्ष का अधिकारी विद्वान्, उदार तथा स्वार्थ त्यागी बन सकता है; किन्तु स्वार्थ का तो लेशमात्र भी उसमें नहीं रहना चाहिये वरना यही-प्राप्ति में अड़चन पैदा कर देगा ।

शिष्य-गुरु जी ! विद्वान् तो मैं हूं; इसलिये मोक्ष का अधिकारी हूँ ।

गुरु—रे पागल ! तुझे विद्वान् कौन कहेगा ? तेरी बुद्धि का तो पहले ही दीवाला निकला हुआ है । तू तो चेतन महाप्रभु को छोड़कर, जड़ पदार्थों तक से याचना करने में लगा हुआ है । उस महाप्रभु को तो तू जानता ही है कि वह सर्वज्ञ है; इसलिये तेरा यह ढोंग विद्वता का उसके सामने नहीं चलेगा ।

शिष्य-गुरु जी ! विद्वान् न सही । फिर भी आपको इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मेरी परोपकारी भावना तो है । यदि मुझे पर्य्याप्त धन मिल जाय तो मैं देशोन्नति में लगाकर बड़ी-बड़ी औद्योगिक

संस्थायें खुलवा डालूं । अनाथालय और विद्यालय बनवा दूं। ईश्वर पहले देने की कृपा तो करे।

गुरु–अरे बच्चे ! यह याद रहे–प्रभुता पाय काहि मद नाहिं–मनुष्य पास जब धन हो जाता है, तब वह ईश्वर को भूल जाया करता है। सच कहा है –

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
यह खाये बौराय नर वह पाये बौराय ।।

यह याद रहे—यदि मनुष्य धन पाकर भी ईश्वर को याद रखे, तो कभी मार्ग विचलित नहीं होता । जब मनुष्य ऐश्वर्य्यशाली बन जाता है, तब हृदय संकुचित हो जाया करता है। उसे महाप्रभु से कोई बात छुपी नहीं है; इसलिये तू कितना परोपकारी है यह उसे सब पता है।

शिष्य गुरु जी ! क्या मेरे अन्दर कोई भी गुण नहीं है ?

गुरु—बच्चे तेरे अन्दर एक गुण अवश्य है और वह है—याचकता–इसे ईश्वर भी अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि वही एक दाता है और शेष सब उसके भिखारी हैं।

शिष्य-गुरु देव ! मुझे तो उस ईश्वर से याचना की शैली बतला दीजिये, ताकि मुझे इसी जीवन में मोक्ष-प्राप्ति हो जाय।

गुरु—बच्चे ! यदि मोक्ष की ही इच्छा है, तो पहिले–विश्वानिदुरितानि परासुव—के सिद्धान्त का अनुकरण कर अर्थात् अपनी बुराइयों का त्याग कर दे। सबसे बड़ी बुराई या बुराइयों की जड़–स्वार्थ-वृत्ति–है, उसे त्याग दे, या यों कहिये कि धन, बल और विद्यारूप ऐश्वर्य्य को केवल अपने परिचित व्यक्तियों तक ही काम में न ला, बल्कि उसे तू अपने लिये, समाज के लिए और देश के लिये काम में लगा दे।

शिष्य—गुरु देव ! स्वार्थ का एकदम अन्त करना तो कठिन है। हाँ, इतना कर सकता हूं कि धीरे धीरे स्वार्थ का त्याग कर दूं। वह भी उस समय ही सम्भव है जबकि प्रत्युत्तर में कुछ प्राप्त होने लगे। फिर तो स्वार्थ को बिल्कुल त्यागकर परोपकार को ही अपने जीवन का ध्येय बना लूंगा।

गुरु—बच्चे ! अध्यात्मवाद में ऐसा तो नहीं होता। यहाँ तो यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य पहले—विश्वानि दुरितानि परासुव—अपनी सारी बुराइयों का त्याग करदे अर्थात स्वार्थ वृत्ति को जड़ से उखाड़ कर फैंक दे। जब तक मनुष्य के अन्दर लेशमात्र भी स्वार्थ की भावना प्रस्तुत है, तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता।

शिष्य—गुरुजी के वाक्य सुनकर बहुत घबराया और चिन्तित हो उठा।

गुरु—अपने शिष्य को चिन्तित देख कर उसे सान्त्वना देते हुए कहने लगे हे बच्चे ! वह ईश्वर—सवितः—कहलाता है। इसका अर्थ होता है—बुराइयों को दूर करने वाला—ज्यों-ज्यों तेरी मनोवृत्ति ईश्वर की ओर लग जायेगी, अर्थात ईश्वर को अपने दैनिक कार्यों में—सर्वव्यापी शक्तिशाली तथा न्यायकारी—मान लेगा, त्यों-२ तू भी आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी तथा सरल स्वभाव वाला बन जायेगा, अर्थात तेरी स्वार्थ वृत्तियाँ भी तेरे से दूर हो जायेंगी। अन्त में तू भी संयमी और परोपकारी बन जायेगा।—मोक्षप्राप्ति—केवल ईश्वरोपासना से ही हो सकती है।

शिष्य—गुरुजी ! इस स्वार्थ-वृत्ति को परमार्थ वृत्ति में कैसे बदल जाय ?

गुरु—बच्चे ! —महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती—ने उपासक के सामने प्रार्थना का प्रथम मन्त्र—ओ३म् विश्वानि ···परासुव—रख कर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उपासक को सर्व प्रथमप्राणायाम् की सहायता से अपने स्थूल-प्राण को सूक्ष्म—प्राण में बदल लेना चाहिए ताकि उसकी स्वार्थ वृत्ति परमार्थ वृत्ति में बदल जाय। ऐसा होते ही साधक का जीवभाव आत्म-भाव में बदल जायेगा। फिर वह भी परमात्मा के समभाव बन कर उस परमात्मा से सहायता प्राप्ति का अधिकारी बन जायेगा, क्योंकि मेल सदैव समान गुणवालों में ही हुआ करता है।

अगले चार मन्त्रों में उपासक की शंकाओं का
महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा
समाधान किया गया है ।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती उपासक को समझाते हैं कि ईश्वरोपासना से ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-भक्ति में सफलता ईश्वर को हृदय से अपना स्वामी मान लेने पर प्राप्त हुआ करती है । जब जीवका ईश्वर से मेल हो जाया करता है, तब जीव ईश्वर का मित्र हो जाने के नाते उस ईश्वर की लौकिक तथा पारलौकिक सम्पत्ति के भोगने का भी अधिकारी बन जाया करता है । यही ईशवरोपासना से लाभ भी है ।

———

ईश्वरोपासना पर उपासक की प्रथम शंका

जीव और ईश्वर जब दोनों हीं चेतन तथा अनादि हैं, तब ऐसी समानता रहते हुये जीव को ईश्वर की उपासना करने की क्या आवश्यकता है?

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती उपासक की इस शंका के समाधान में वेदों में से एक मन्त्र उद्धृत करते हैं।

ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथ्वी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविसा विधेम ॥२॥

पदच्छेद

हिरण्य गर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः। दाधार। पृथ्वीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

अन्वय

हिरण्य गर्भः भूतस्य जातः, पति एकः आसीत्। अग्रे समवर्तत। सः इमाम् पृथ्वीम् उत द्याम् दाधार। कस्मै देवाय हविषा विधेम।

संस्कार विधि में महर्षि द्वारा वर्णित मन्त्रार्थ

जो (हिरण्य गर्भः) स्व प्रकाश स्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुये

सम्पूर्ण जगत का (जातः) प्रसिद्ध (पति) स्वामी (एकः) एक ही चेत स्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्तते) भी वर्तमान था (सः) सो (इमाम्) इस (पृथ्वीम्) भूमि को (उत) और (द्याम) सूर्य्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है। हम लोग उस (कस्मै) सुख स्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास अति प्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें।

मन्त्र का सरल भावार्थ

ईश्वर स्वप्रकाश स्वरूप है। उसने दो प्रकार के लोकों की रचना की है उनमें से कुछ तो प्रकाश देने वाले हैं, जैसे—सूर्य्य, चन्द्रादि और कुछ प्रकाश पाने वाले हैं, जो सूर्य्यादि के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, जैसे—पृथ्वी, किन्तु वह केवल इन लोकों का रचयिता ही नहीं है, बल्कि शासक भी है अर्थात् सर्वत्र उसके ही नियमों का पालन होता है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि हृदय से उसकी भक्ति किया करे। इसी में उसका कल्याण भी है।

मन्त्र का यौगिक साराँश

जीवात्मा और परमात्मा में बड़ा भारी अन्तर है। जीवात्मा जहाँ अल्पज्ञ है, परमात्मा वहाँ सर्वज्ञ। जीवात्मा के अधिकार में तो उसका अपना मन भी नहीं, वहाँ परमात्मा की सत्ता सारे विश्व में छायी हुई है और सर्वत्र इसी के नियमों का पालन होता है। जीवात्मा जहाँ सांसारिक बन्धनों से बँधा हुआ है वहाँ परमात्मा सबसे मुक्त है, इसलिए जीवात्मा का भला इसी में है कि वह परमात्मा को अपना स्वामी मानता हुआ सच्चे हृदय से उसकी भक्ति करता है ताकि प्राणान्त पर संसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाय और फिर जन्म न लेना जीवात्मा का प्रभु भक्ति से ही कल्याण हो सकता है।

———o———

उपासक की पहली शंका

जीवात्मा और परमात्मा दोनों चेतन तथा अनादि होते हुये जीवात्मा परमात्मा की दास्यता को क्यों स्वीकार करे ?

गुरु–शिष्य–सम्वाद

शिष्य–गुरुजी ! यह तो बतलाइये कि जब जीव और ईश्वर दोनों की ही स्वतन्त्र सत्तायें हैं, तब जीवद्वारा ईश्वर की उपासना करने का अर्थ उसका आधिपत्य स्वीकार कर अपने हाथों अपने पैरों बेड़ियाँ डालने के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है ?

गुरु—अरे मूर्ख ! तूने तो एक नास्तिक की जैसी बात कह डाली। जीव और ईश्वर दोनों हैं तो स्वतन्त्र, किन्तु दोनों में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है। जीव अल्पज्ञ है और एक देशीय है; किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वव्यापी है। ईश्वर जहां साँसारिक बन्धनों से मुक्त है, वहां जीव साँसारिक बन्धनों में फँसा हुआ है। जीव तो साँसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहता; किन्तु ऐसा ईश्वराधीन है, जो केवल उसकी उपासना से ही सम्भव हो सकता है। यदि यह कहाजाय कि लौकिक और पारलौकिक सुख दोनों ही ईश्वराधीन हैं, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। ईश्वरका आधिपत्य स्वीकार किये बिना पारलौकिक सुख तो दूर रहा, लौकिक सुख भी प्राप्त होना असम्भव है।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो बतलाइये कि ईश्वर जीव से कितनी प्रकार बड़ा है ?

गुरु—बच्चे सुनो। ईश्वर जीव से पाँच प्रकार बड़ा है।

१—पिण्ड रूप आकार में बड़ा है। २—सृष्टि रचना की दृष्टि से कालरूप आयु में बड़ा है। ३—कार्य्य—कारण भाव से पिता होने के नाते भी बड़ा है।

४—विश्व का स्वामी होने के नाते अधिकार रूप शक्ति में भी बड़ा है।

५—इस अलौकिक सृष्टि रचना के कारण योग्यता में भी बड़ा है।

शिष्य—गुरुजी ! ईश्वर की विशेषतायें भली प्रकार समझ में नहीं आईं। कृपया विस्तार पूर्वक समझाइये।

गुरु—रे मूर्ख ! उस ईश्वर को—हिरण्य गर्भः—कहते हैं। यह पद दो शब्दों का मिश्रित रूप है—हिरण्य + गर्भः—जिसमें—हिरण्य—शब्द का अर्थ होता है—ब्रह्माण्ड—और गर्भः—शब्द का अर्थ—अन्दर—। फिर—हिरण्य गर्भः—का अर्थ होता है—वह पदार्थ जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। यह सारा ब्रह्माण्ड ही फिर उस प्रभु का रूप हुआ। वह महाप्रभु कितना—विशाल-काय—और जीवका शरीर रूप पिण्ड तो इस विश्व रूप पिण्ड का एक छोटासा अंग ही तो है। किसी पदार्थ का कोई भाग उसके तमाम के बराबर कैसे हो सकता है ? (A part cannot be equal to the whole) आकार में जीव की ईश्वर से क्या तुलना ? इसलिये ईश्वर जीव से आकार में बड़ा है।

शिष्य—गुरुजी ! ईश्वर की यह एक विशेषता तो समझ में आ गई। दूसरी और समझाइये।

गुरु—बच्चे ! समवर्त्ताग्रे —यह दो शब्दों से बना है समवर्त्त + अग्र जिसमें समवर्त्त का अर्थ होता है–था–और अग्रे का अर्थ होता है –पहिले-पहले से तात्पर्य है–सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व–समस्तपद –समवर्त्ताग्रे–का अर्थ हुआ सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व भी वह ईश्वर विद्यमान था। तब ही तो उसने इस सृष्टि को रचा। जीव प्रकृति के साथ मिल कर अपने प्रारब्ध कर्मों के भोग भोगने के लिए इस सृष्टि की उत्पत्ति होने के पश्चात् शरीरधारी बना। यदि इस शरीरधारी जीव के और ईश्वर के काल में तुलना की जाय, तो ईश्वर सृष्टिकर्त्ता होने के नाते उसके काल में और जीव के काल में जो इस सृष्टि का एक अंग है, बड़ा अन्तर दीख पड़ता है। किसी पदार्थ का काल ही उसकी आयु हुआ करती है। सृष्टि रचना के दृष्टिकोण से फिर ईश्वर जीव से बहुत बड़ा है।

शिष्य–गुरु जी ! ईश्वर की दोनों विपतायें तो समझ में आ गईं, अब और समझाइये।

गुरु—बच्चे ! ईश्वर को—भूतस्य जातः—भी कहते हैं। भूतस्य का अर्थ होता है—संसार का—और जातः का अर्थ होता है—उत्पन्न करने वाला—। उस महाप्रभु ईश्वर ने इस संसार की रचना की है। ईश्वर की प्रेरणा से जीव ने भी अपने कर्मानुसार इस संसार में जन्म लिया है। ईश्वर तो इस दृष्टि से संसार का—कारण—हुआ और शरीरधारी जीव रूप—मनुष्य—कार्य्य। कारण का महत्व सदैव कार्य्य से अधिक हुआ करता है; जैसे कुम्हार का महत्व उसके द्वारा बनाये हुए घड़े से बहुत अधिक हुआ करता है। इसी कार्य्य कारण को दृष्टि में रखते हुए—ईश्वर का जीव से बड़ा होना कहा गया है।

शिष्य–गुरु जी ! अब तो विषय समझ में आता जा रहा है। यह तो मेरी समझ में आ गया कि ईश्वर जीव से आकार में, आयु में और

कार्य्यकारण भाव से बड़ा है । अब मैं ईश्वर की शेष विशेषतायें भी आपसे ही सुनना चाहता हूं ।

गुरु- बच्चे ! अब तू बड़ा ही प्रसन्नचित्त दीख पड़ता है सुन—ईश्वर-पतिरेक: आसीत्—का पद पाये हुए हैं । इस वाक्य में तीन शब्द हैं—पति: + एक: + आसीत्—पति कहते हैं—स्वामी को । ईश्वर इस जगत् का स्वामी भी है । एक: का अर्थ होता है-अकेला-वह ईश्वर अकेला ही इस जगत का स्वामी है । इसमें किसी का भी साझा नहीं है । उसी महाप्रभु का एकाधिपत्य है । आसीत् कहते हैं-है-को । समस्त वाक्य का अर्थ हुआ—वह महाप्रभु जहाँ इस संसार का रचयिता है, वहाँ वह इस संसार का स्वामी भी है । उसी एक महाप्रभु का शासन भी है । उसी के अनुशासन में सबको रहना पड़ता है । बिना उसकी आज्ञा के कोई परमाणु तक अणुमात्र भी इधर का उधर नहीं हो सकता । ईश्वर सत्ता सारे विश्व पर छाई हुई है और ईश्वर का शासन तो उसके मन पर भी नहीं है । ईश्वर इसलिये अधिकार रूप में भी जीव से बहुत बड़ा है ।

शिष्य-गुरु जी ! ईश्वर जीव से योग्यता में कैसे बड़ा है ?

गुरु-बच्चे ! यह तो बड़ी ही सरल बात है । सुन—सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमाम्—(स: + इमाम् + पृथिवीम् + उत् + द्याम् + दाधार)

स: = उस ईश्वर ने	जीवात्मा ने जहाँ केवल शरीर को ही
पृथिवीम् = पृथ्वी को	धारण कर रखा है, अर्थात् जीव के
उत् = और	हाथ में जहाँ शरीर का ही प्रबन्ध है,
इमाम् = इस	वहाँ ईश्वर ने पृथ्वी से लेकर सूर्य्य तक
द्याम् = सूर्य्य को	धारण कर रखा है, अर्थात् लोक-
दाधार = धारण किया	लोकान्तरों का प्रबन्ध उसके हाथ में है
हुआ है ।	इसीलिये जीव को ईश्वर के साथ कोई
	बराबरी नहीं । ईश्वर जीव से बहुत
	योग्य है; इसीलिये उसे बड़ा कहा है ।

उपासक के हृदय में जो शंका उत्पन्न हुई थी कि जीव और

ईश्वर जब दोनों ही स्वतन्त्र सत्तायें हैं, तब उसे ईश्वरोपासना करने की और उसका आधिपत्य स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? महर्षि ने इस द्वितीय मन्त्र द्वारा उपासक की ईश्वरोपासना सम्बन्धी शंका की निवृत्ति करते हुए उसे यह समझाया है कि तू मिथ्याभिमान को त्याग दे और अपने कल्याणार्थ नम्रतापूर्वक यह कह—'कस्मै देवाय हविषा विधेम'—

कस्मै = उस	उस महाप्रभु को हृदय से अपना लें, ताकि
देवाय = ईश्वरके लिए	उसका भी प्रेम पात्र बन जाय । यहाँ हवि
हविषा = हार्दिक प्रेम से	शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है । महर्षि ने यहां—हविषा - का अर्थ किया है ।
विधेम = भक्ति कर	योगाभ्यास द्वारा अपने हार्दिक प्रेम को उस ईश्वर की भेंट चढ़ावें ।

हवि—शब्द के अर्थ होते हैं—[१] घृत, धूप, दीप । [२] प्रेम, योगाभ्यास । [३] भेंट ।

शिष्य—गुरु जी ! भेंट की बात भली प्रकार समझ में नहीं आई । इसे स्पष्ट कीजिये ।

गुरु—बच्चे जब किसी आदमी से मिलने के लिए जाना होता है, तब मनुष्य लौकिक व्यवहारानुकूल उसके लिए कोई पदार्थ भेंट के रूप में देने के लिए ले जाया करता है और उस समय भी यह ध्यान रखना पड़ता है कि भेंट रूप में दी जाने वाली वस्तु कोई ऐसी तो नहीं है, जो उसी महापुरुष से प्राप्त की गई हो, जिसे भेट दी जा रही है । ऐसी वस्तु के लिए उस महापुरुष का ध्यान कभी भी आकृष्ट नहीं होगा, क्योंकि उसके लिए यह वस्तु कोई नई नहीं है । भेट में सदैव वह वस्तु देनी चाहिए जो भेट लेने वाले के लिए नई प्रतीत हो ।

शिष्य—गुरु जी ! कार्य्य-कारण भाव से संसार के सभी पदार्थ, उस ईश्वर की ही सम्पत्ति हैं। फिर उपासक के पास उसके देने के लिए नई वस्तु क्या हो सकती है ?

गुरु—रे बच्चे ! फिर भी उपासक के पास एक वस्तु उसकी अपनी भी है और वह है, केवल उसका अपना—हार्दिक प्रेम—जिसे उपासक ठेठ अपना कह सकता है। यदि उपासक ने अपने उपास्य को योगाभ्यास द्वारा अपना हार्दिक प्रेम अर्पण कर दिया और उपास्य (ईश्वर) को अपना स्वामी मान लिया, तो फिर वह उपास्य भी अपने उपासकों को सब कुछ ही दे दिया करता है। लौकिक सुख तो क्या ? पारलौकिक सुख से भी वञ्चित नहीं रखता। सच कहा है—

भजन

हुआ ध्यान में ईश्वर के, जो मग्न, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
जब ज्ञान की गंगा में न्हाया, तब मन में मैल जरा न रहा।।
परमात्मा को जब आत्मा में, लिया देख ज्ञान की आँखों से।
पार हुआ भव सागर से, अब कोई क्लेश लगा न रहा।।

भावार्थ

मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह ईश्वर को ही अपना स्वामी समझे और अपने को उसका सेवक और वह भी हार्दिक प्रेम के साथ।

———

ईश्वरोपासना और प्रारब्ध-कर्म सम्बन्धी उपासक की शंका का
महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती वेदो में से एक और यन्त्र
उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि ईश्वरोपासना
से उपासक में प्रारब्ध कर्मों के फलों को सहन
करने के लिये आत्म-बल आ जाता है।

ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवा।
यस्यच्छायाऽमृत यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

पदच्छेद

यः। आत्मदा। बलदा। यस्य। विश्व। उपासते। प्रशिषम्। यस्व। देवाः। यस्य। छाया। अमृतम्। यस्य। मृत्युः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥

अन्वय

यः आत्मदा बलदा, यस्य विश्वे देवा, उपासते, यस्य प्रशिषम्, यस्य छाया अमृतम्, यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

संस्कार विधि में महर्षि द्वारा की हुई व्याख्या

(यः) जो (आत्मदा) आत्म-ज्ञान का दाता, (बलदा) शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल का देने हारा (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्य स्वरूप शासन, न्याय अर्थात शिक्षा को मानते हैं। (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्ष-सुख दायक है। (यस्य) जिसका न मानना।

उपासक की दूसरी शंका

प्रारब्ध कर्मों के भोग जब भोगने ही पड़ते हैं, तब ईश्वरोपासना की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

उपासक का प्रश्न

ईश्वरीय विधानानुसार सभी को जब अपने प्रारब्ध कर्मों के भोग भोगने ही पड़ा करते हैं, तब फिर ईश्वरोपासना की क्या आवश्यकता रह गई ? और यदि कहो कि ईश्वरोपासना से पाप कर्मों के भोग जीव को भोगने नहीं पड़ते, तो फिर किसी व्यक्ति को भी पाप कर्मों से भय खाने की आवश्यकता ही क्या है ? आयु पर्यन्त मनुष्य बड़े से बड़े पाप कर्म करता रहे और फिर अन्त में ईश्वर से उनके लिए क्षमा-याचना कर लिया करे, बस, बेड़ा पार है। इससे सरल रीति पाप-कर्मों से मुक्त होने की और क्या हो सकती है ?

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा समाधान

इस सम्बन्ध में महर्षि लिखते हैं कि प्रारब्ध कर्मों के शुभाशुभ भोग तो प्रत्येक जीवधारी को भोगने ही पड़ते हैं, किन्तु ईश्वरोपासना से भक्त में आत्म बल आ जाया करता है, जिसकी सहायता से ईश्वर-भक्त अपने पाप-कर्मों के बुरे से बुरे परिणामों को भी सहन कर लिया करता है। किसी भी पाप-कर्म का परिणाम उपासक के लिए दुःख का कारण नहीं बनता, किन्तु वह यह देखकर प्रसन्न होता है कि उसके पाप-कर्मों में से एक पाप-कर्म कम हो गया। वह तो निरन्तर इस बात की प्रार्थना करता रहता है कि हे ईश्वर ! यदि मेरा कोई

और पाप-कर्म शेष रहा है, तो उसका भी शीघ्रातिशीघ्र भुगतान हो जाना

चाहिए, ताकि मैं इसी जीवन में मुक्ति-प्राप्ति का अधिकारी बन जाऊं। बस, इतना ही प्रारब्ध-कर्मों का ईश्वरोपासना से सम्बन्ध है।

अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है। हम लोग उस सुख स्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये और (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसकी आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥३॥

सरलार्थ

ईश्वरोपासना से आत्मावल की प्राप्ति हुआ करती है, जो शारीरिक, मानसिक और सामाजिक को ऊँचा उठाने वाला है; इस लिये विद्वज्जन उसे अपना स्वामी मानते आये हैं। सच भी यही है कि उसकी भक्ति करने में कभी कोई आपत्ति नहीं; किन्तु भक्ति न करने में बड़ी-बड़ी हानियाँ हैं। मनुष्य मात्र के लिये उचित तो यही है कि वह सच्चे हृदय से उसकी भक्ति किया करे।

मन्त्र का यौगिक भाव

(प्रारब्ध-कर्म-भोग पर इश्वरोपासना का प्रभाव)

प्रारब्ध कर्म भोग तो सबको ही भोगने पड़ा करते हैं, चाहे राजा हो या रंक। ईश्वरोपासना में उसीका मन लगा करता है जिसके शुभ-संस्कार उदय हो आते हैं। मनुष्य जब अपने स्वधर्माचरण को कर्त्तव्य समझकर करने लगता है, तब उसका अन्तः करण भी शुद्ध हो जाया करता है। शुद्ध अन्तःकरण मुक्त व्यक्ति ही ईश्वर-भक्त बना करता है। एक ईश्वर भक्त के जीवन में चाहे कैसी ही बुरे से बुरी घटना क्यों न आ घटे, वह उससे कभी भी भय-भीत नहीं होता। उसके प्रति खेद प्रकट करने की अपेक्षा प्रसन्न ही हुआ करता है, क्योंकि उसके विचार में दुःखद घटनाओं से भावी-जीवन सरल बन-जाता है। उसकी तो ईश्वर से यही विनय हुआ करती है कि जो भी बुरे कर्मों का फल उसे भोगना शेष है, वे सभी शीघ्रातिशीघ्र यदि घटित हो जायें, तो बहुत अच्छा है, ताकि जीवन शीघ्र ही उनसे मुक्त होजाय। ईश्वर-भक्ति से मनुष्य में आत्म-बल आया करता है। आत्मबल उपासक के प्रारब्ध कर्मों के अशुभ भोग भोगने में एक सहारा है, जो उसे इस भवसागर से पार लगादिया करता है।

उपासक की दूसरी शंका

प्रारब्ध कर्म तथा ईश्वर-भक्ति सम्बन्ध में

(गुरु-शिष्य-सम्वाद)

शिष्य—गुरुजी ! क्या ईश्वर-भक्ति से पापकर्म फल कर्त्ता को भोगने नहीं पड़ते ?

गुरु—बच्चे ! प्रारब्ध कर्मों का विना भोगे अन्त नहीं होता, चाहे वे शुभ हैं या अशुभ। ईश्वरोपासना से मनुष्य में आत्म-बल आ जाया करता है, जो उन कर्मों के भुगतान के समय भोक्ता में सहन शीलता प्रदान कर दिया करता है और फिर आत्म-बलके द्वारा बड़ेसे बड़े पाप कर्म का परिणाम भी उपासक के लिये दुःखदायी नहीं बनता।

शिष्य—गुरुजी ! बल कितने प्रकार का होता है ?

गुरु—बच्चे ! बल तीन प्रकार का होता है :—

(१) शारीरिक बल; (२) आत्मिक बल;
(३) सामाजिक बल।

शिष्य—गुरुजी ! आत्म-बल प्राप्ति का क्या साधन है ?

गुरु—बच्चे। ईश्वरोपासना से आत्म-बल प्राप्ति हुआ करती है।

शिष्य—गुरुजी ! ईश्वरोपासना से आत्म-बल प्राप्ति कैसे हुआ करती है ?

गुरु—बच्चे ! प्रकृति, जीव और ईश्वर—तीनों ही अनादि हैं। जीवका मेल एक ओर तो प्रकृति से है और दूसरी ओर ईश्वर से। जीव का प्रकृति के साथ मेल बन्धन का कारण है और ईश्वर के साथ आत्म-बल का।

शिष्य—गुरुजी ! प्रकृति से जीव का मेल क्यों हो जाता है और उस मेल से जीवके सामने कौनसी आपत्तियाँ आ खड़ी होती हैं ?

गुरु—वच्चे ! जीव अपने पूर्व-कृत कर्मों के कारण ईश्वरीय न्याय-व्यवस्थानुकूल जव प्रकृति से मिलकर मानव शरीर धारण करता है; तव उसका प्रेम बन्धन धीरे २ अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ तथा धन-सम्पत्ति के साथ इतना वढ़जाया करता है कि ममता के वशीभूत हुआ, वह व्यक्ति ईश्वरीय आदेशों की भी अवहेलना करने लगता है। फिर वह ऐसे कर्म भी कर डालता है, जो उसे जन्म-मरण के फन्दे में फाँसते रहते हैं। यही प्रकृति के साथ जीवका मेल है, जो एक वड़ाभारी दुःखदायी वन्धन है और शारीरिक, मानसिक तथा दैवी आपत्तियों का स्रोत है।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो वतलाइये कि जीव का सम्वन्ध ईश्वर से कव होता है ? और ईश्वर से सम्वन्ध होने से जीव को लाभ भी क्या है ?

गुरु—वच्चे ! सत्संग तथा सद् ग्रन्थों के स्वाध्याय के प्रभाव से जव मनुष्य सत्कर्म करने लगता है, तव धीरे २ इस दशामें उसका झुकाव ईश्वर की ओर हो जाया करता है। इस दशा में—य: आत्मदा वलदा—फिर वह ईश्वर भी उसे आत्म-वल प्रदान कर दिया करता है, जिसकी सहायता से मनुष्य में आत्म-ज्ञान की उत्तपत्ति होजाया करती है। वह इस आत्म-ज्ञान की सहायता से अपने प्रारव्ध कर्मों के भागों द्वारा उत्पन्न हुये दुःखों को सुगमता पूर्वक सहन करलिया करता है।

शिष्य—गुरुजी ! आत्म-वल की प्राप्ति से उपासक को क्या लाभ होता है ?

गुरु—रे मूर्ख ! तेरी समझ में अव भी नहीं वैठा कि आत्म-वल से क्या २ लाभ उपासक को हुआ करते हैं ? सुन—

१—आत्मवल से विपत्तियों में धैर्य्य, २—सामाजिक जीवन में सम्मान, और (३) कठिन से कठिन समस्या को पूरा करने की शक्ति उपासक में आ जाया करती है।

वच्चे ! और सुन-आत्म वलसे ही आत्म ज्ञानका जन्म हुआ करता है। और आत्म ज्ञान से—मोक्ष—की प्राप्ति सुलभ हो जाया करती है। जीवन लक्ष्य प्राप्ति में आत्मज्ञान ही सर्वोपरि है। ईश्वरोपासना, इसी कारण मानव जीवन के लिये अनिवार्य्य कही गई है।

शिष्य—गुरुजी ! क्या यह वताने की कृपा करेंगे कि अवतक किसी और व्यक्ति ने भी आत्मज्ञान प्राप्त किया है ?

गुरु—वच्चे !—यस्य विश्व उपासते—ईश्वर-भक्ति कोई नयीं वस्तु नहीं है। तू यह न समझ कि पहिला मनुष्य—तू ही है—जो इस आत्म वलको प्राप्त करने चला है। संसार के बड़े-बड़े विद्वानों ने उस महाप्रभु ईश्वर की उपासना करके जीवन में सफलता प्राप्त की है।

शिष्य—गुरुजी ! मुझे तो केवल इतना वतलाने की कृपा कीजिये कि ईश्वरोपासना अज्ञानी पुरुषों द्वारा सञ्चालित की हुई कोई भेड़चाल तो नहीं है ?

गुरु—वच्चे !—प्रशिषं यस्य देवाः—दिव्य गुणों से सम्पन्न—मुक्तात्मायें—ईश्वरोपासना की सदैव से प्रशंसा करते आये हैं अर्थात् इस ईश्वरोपासना के ही वलपर वे इस—देवयोनि—तक पहुंचे हैं—सच कहा है—

वह है नाथ वरों का दाता, उससे सब वर पाते हैं।
ऋषि मुनि और योगी सारे, उसका ही गुण गाते हैं॥

विद्वज्जन सदव से उस महाप्रभु के नियमों का पालन करते आये हैं और इसी मार्ग का अन्त तक अनुकरण कर मुक्ति-प्राप्ति के

अधिकारी बने हैं । [illegible] जीवन में रहना ही उसके नियमों का पालन करना अर्थात् उसके अनुशासन में रहना कहा है। यही जीवन-लक्ष्य प्राप्ति का साधन भी है।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो बतलाइये-यदि उस निराकार ईश्वर को, जो सर्वत्र व्यापक है, इन देवी-देवताओं की मूर्तियों में ही मानकर, उसकी उपासना कर ली जाय, तो क्या आपत्ति है ?

गुरु—रे मूर्ख ! जरा इधर भी ध्यान दे, वेद क्या बताते हैं।

यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्यु

(यस्य + छाया + अमृतम् + यस्य + मृत्यु)

यस्य = उस महाप्रभु ईश्वर का सहारा लेने से अर्थात अनुशासन में रहने से या
छाया = यों कहिए कि उसकी आज्ञाओं का पालन करने से
अमृतम् = मनुष्य अमर हो जाता है।

उस महाप्रभु ईश्वर की उपासना करने से अर्थात उसके नियमों का पालन करने से मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा दैवी आपत्तियों से मुक्त हो जाता है या यों कहिये कि जीवन मरण से सदैव के लिए छुटकर इतिहास के पन्नों पर अमर हो जाता है।

यस्य = उस महाप्रभु की उपासना न करने से अर्थात उस जड़पदार्थ रूप मूर्ति में ईश्वर को समझकर ध्यान धरने से या यों कहिये कि मूर्तियों की पूजा करने से
मृत्यु = मृत्यु को मनुष्य प्राप्त होता

जो व्यक्ति ईश्वर को छोड़कर देवी-देवताओं की उपासना के चक्कर में पड़ जाते है, वे अन्त में हाथ मलते ही देखे गये हैं, क्योंकि उन मुक्त आत्माओं के हाथ में जिनकी ये मूर्तियाँ हैं, न तो मुक्ति प्रदान करना है और न लौकिक सुख के लिए भौतिक

हैं, अर्थात संसार चक्र में ही पड़ा रहता है, या यों कहिये कि अन्त में ऐसे व्यक्तियों को पछताना ही पड़ा करता है।

सामग्री प्रदान करना ही है। उनकी जीवन से ईश्वर भक्ति के प्रति उपासक के हृदय में केवल उत्साह तो पैदा हो सकता है। यही उनसे लाभ भी है।

उपासना करने से पूर्व यह ध्यान देने की बात है कि उसका उपास्य—

१—जड़ है या चेतन, २—उपास्य एक स्थानीय है या सर्वव्यापी, ३—उपास्य के हाथ में इप्सित वस्तु का प्रदान करना है भी या नहीं, ४—उपास्य साकार है या निराकार, ५—उपास्य से किस प्रकार का लाभ हो सकता है ?

शिष्य—गुरुजी ! जब यह कहा जाता है कि भावना में बड़ी शक्ति है, तब जड़ादि पदार्थों में ही यदि—ईश्वर-भावना—रखकर उपासना करली जाय, तो क्या हानि है ? भावना ही से तो फल की प्राप्ति हुआ करती है।

गुरु— रे मूर्ख ! भावना सत् भी होती है और असत् भी। सद्भावना ही फलदायिनी हुआ करती है। जड़ादि पदार्थों में भावना रखकर उपासना करना-असद्भावना—है, जो ईश्वर-भक्ति की परिभाषा में नहीं आती, इसलिये उन व्यक्तियों को, जो जड़ पदार्थों में ईश्वर की भावना रखकर उपासना करते हैं, अन्त में पछताना ही पड़ता है। वे मुक्ति के अधिकारी नहीं बनते। मुक्ति के अधिकारी वे ही मनुष्य हुआ करते हैं, जो उस सर्वव्यापी ईश्वर की सद्भावना से उपासना करते हैं।

शिष्य—गुरुजी ! सद्भावना से उपासना कैसे होती है ?

गुरु— बच्चे ! सुन जिस भाव में दृष्टिकोण तो उच्च हो, लगन हार्दिक हो, श्रद्धा अटूट हो और परिश्रम अथक हो, वही सद्भावना कहलाती है।

शिष्य—गुरुजी ! सद्भावना के साथ उपासना कैसे की जाय? ताकि उस महाप्रभु से मेल हो जाय ?

गुरु— बच्चे ! कस्मै देवाय हविषा विधेम—

कस्मै = अपने कल्याणार्थ (उस) देवाय = महाप्रभु ईश्वर के निमित्त हविषा = निष्काम भाव की भेंट विधेम = चढ़ा दे	अपने कल्याणार्थ जो कुछ भी मनुष्य करे, उसे निष्काम भाव से करे और उसे भी ईश्वरार्पण कर दे, फिर जीव का ईश्वर से सीधा सम्बन्ध हो जाता है।

जीवात्मा की प्रकृति पर विजय से ही ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति

मनुष्य के सामने जीवन में दो ही मार्ग हैं—

[१] सकाम शैली; [२] निष्काम शैली।

सकाम शैली की दशा में जीव का सम्बन्ध प्रकृति के साथ चलता रहता है; किन्तु निष्काम भाव शैली की दशा में जीव का सम्बन्ध सीधा ईश्वर से हो जाया करता है। प्रकृति के प्रतिनिधि-प्राण-का शरीर से उस समय तक ही प्रभाव रहा करता है, जब तक कि जीवात्मा का सम्बन्ध ईश्वर से नहीं हो जाता। निष्काम भाव की शैली द्वारा ही जीव को प्रकृति पर विजय मिला करती है।

×

निष्काम भाव से कर्म-सम्पादन करने का प्रभाव

प्रारब्ध सकाम और निष्काम कर्मों का परिणाम होता है, किन्तु दोनों का पोषक-प्राण ही है। उपासक जब तक प्राणों की अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्र में नहीं लगा देता, तब तक जन्म-मरण का चक्कर भी चलता ही रहता है। निष्काम कर्म शैली (योगाभ्यास) का निरन्तर अभ्यास करते रहने से उपासक की मनोवृत्तियाँ ईश्वर में लीन होकर, उसमें आत्म-बल का स्वतः ही प्रादुर्भाव हो जाया करता है।

उपासक की तीसरी शंका

जीव की आवश्यकतायें तो सकाम कर्मों से ही पूरी हुआ करती हैं और इन्हें ही मनुष्य चाहता भी है; फिर वह निष्काम कर्मों के चक्कर में क्यों पड़े ? स्वर्ग तो आलसी जीवों की निवास-भूमि है।

महर्षि उपासक को समझाते हुए कहते हैं—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव, य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

पदच्छेद

यः । प्राणतः । निमिषतः । महित्वा । एकः । इत् । राजा । जगतः । बभूवः । यः । ईशे । अस्य । द्विपदः । चतुष्पदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥४॥

अन्वय

यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा, एकः इत् राजा बभूव ।
यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

संस्कार विधि में की हुई महर्षि द्वारा व्याख्या

(यः) जो (प्राणतः) प्राण वाले (निमिषतः) अप्राण वाले (जगतः) जगत का (महित्वा) अपनी अत्यन्त महिमा से (एकः इत्) एक ही (राजा) राजा (बभूव) विराजमान है। (यः) जो (अस्य) इस (द्विपद) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है। हम उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवस्य) सकल ऐश्वर्य के देने हारे परमात्मा की उपासना अर्थात् (हविषा) अपनी समस्त उत्तम सामग्री को उसकी आज्ञा पालन में समर्पित करके (विधेम) भक्ति विशेष करें ॥४॥

सरलार्थ

इस जगत में दो प्रकार की योनियाँ हैं—(१) प्राण धारियों की योनि, (२) जीव धारियों की योनि। इन दोनों पर ईश्वर का ही प्रभुत्व है और वह भी उसकी विशेषताओं के कारण। वह ईश्वर ही मनुष्य तथा पशु पक्षियों की रचना करता है। लौकिक तथा पारलौकिक सुख सब ही उसके हाथ में है। अपने जीवन को सरल बनाने के लिए मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि उसे अपना प्रेम पात्र बनाने के लिए अपना सर्वस्व उसके ही अर्पण करदे।

यौगिक भावार्थ

सकाम और निष्काम कर्मों का परिणाम ही—प्रारब्ध—कहलाता है जो भावी योनियों की जन्मदाता है, जहाँ जीव के शुभाशुभ कर्मों का भुगतान हुआ करता है, किन्तु इनका चुकता भुगतान तो ईश्वर कृपा पर ही आश्रित है। ईश्वर-कृपा अर्थात जीव भाव से आत्म-भाव में पहुंचना प्राणों की अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्र में लगाने पर ही प्राप्त हुआ करती है।

जब तक सकाम और निष्काम भाव शैली चलती रहेगी, तब तक प्राण भी निरन्तर स्थूल या सूक्ष्म रूप से इनका पोषण करता ही रहेगा। कर्मों को प्राणों की सहायता मिलने से ही जीव को योनियों में जाना पड़ता है। जीव का योनियों में आना और जाना ईश्वरीय विधानानुकूल ही होता है। ये योनियाँ एक प्रकार से जीव के लिए अपना ऋण चुकाने के अड्डे हैं। जीव का भला इसी में है कि वहअपने कल्याणार्थ जीवन-यज्ञ में स्वार्थ की आहुति दे डाले ताकि उसका सीधा सम्बन्ध ईश्वर से हो जाय।

उपासक की तीसरी शंका

आवागमन और मुक्ति सम्बन्ध में

(गुरु–शिष्य–सम्वाद)

शिष्य–गुरुजी ! नमस्ते ! यह तो बतलाने की कृपा कीजिए कि इस जगत में कितने प्रकार की योनियाँ होती हैं ?

गुरु–बच्चे ! इस जगत में केवल दो ही प्रकार की योनियाँ हैं। एक तो —प्राणतः—प्राण धारियों की और दूसरी–अप्राणतः–अप्राण-धारियों की अर्थात केवल जीवधारियों की, जिसमें यह समस्त वनस्पति जगत् आ जाता है।

शिष्य–गुरुजी ! प्राण धारियों और जीवधारियों में क्या अन्तर है ?

गुरु—बच्चे ! मनुष्य तथा पशु-पक्षी आदि तो प्राणधारी हैं और वृक्षादि सब ही जीवधारी कहलाते हैं। प्राणधारी और जीवधारी दोनों ही अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग भोगने के लिए इस जगत में आया करते हैं, किन्तु प्राणधारियों में मनुष्य निष्काम कर्म शैली का अनु-करण कर प्रकृति के प्रतिनिधि–प्राण–से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं और जीवन-मुक्ति प्राप्त कर पारलौकिक सुख भोग के अधिकारी बन जाते हैं, किन्तु प्राण धारियों में भी पशु-पक्षी आदि तो केवल अपने पूर्वकृत सकाम कर्मों का भोग भोगने के लिए ही आया करते हैं और अपनी जीवन-यात्रा के समय भावी योनि के लिए अपने

नूतन संस्कारों को जन्म देते रहते हैं, इसीलिए इनका प्रकृति के प्रतिनिधि प्राण से कभी भी छुटकारा नहीं होता।

शिष्य—गुरुजी ! इन प्राण-धारियों और जीव धारियों पर शासन कौन करता है ? अर्थात इनको किसके नियमानुकूल रहना पड़ता है ?

गुरु—बच्चे ? महीत्वैक इद्राजा जगता बभूव।

महित्वा—अपनी महानता के कारण यों कहिए कि अपनी विशेषताओं के कारण
एक:—एक ही
इत्—निश्चय करके
जगत—संसार रूप चराचर का
राजा—स्वामी
बभूव—है

जीव और ईश्वर दोनों ही चेतन और अनादि हैं। ईश्वर ने जीव को उत्पन्न तो नहीं किया, किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ और जीव अल्पज्ञ होने के कारण ईश्वर अपनी योग्यता के बल पर जीवका स्वामी बन बैठा है। जीव का कल्याण भी बस इसी में रह गया है कि वह ईश्वर को अपना स्वामी मान कर उसके आदेशानुकूल जीवन यापन करता रहे।

शिष्य—गुरुजी ! यह बतलाने की और कृपा कीजिए कि जीव योनियों में आता कैसे है ? और इन योनियों में आने के निमित्त जीव के लिए नियमों की रचना कौन करता है ?

गुरु—बच्चे ! जीव इन योनियों में अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ही आया करता है और यह सब कुछ ईश्वरीय नियमनुकूल ही होता रहता है। प्रारब्ध कर्मों में से जो प्रबल कर्म होते हैं, उन्हें जीव को किसी भावी योनि में आकर निश्चत काल के अन्तर्गत ही भुगतान करने पड़ते हैं। यह काल ही जीव की उस भावी योनि में —आयु—कहलाती हैं।

शिष्य—गुरुजी ! जीव का योनि में आना कुछ समझ में नहीं आया। आप इस विषय को स्पष्ट कीजिये कि कर्मों का योनियों से क्या सम्बन्ध है ?

गुरु—बच्चे [मनुष्य को ईश्वर ने दो प्रकार की इन्द्रियाँ दी हैं:—

(१) कर्मेन्द्रियाँ । (२) ज्ञानेन्द्रियाँ।

(अ) मनुष्य ने यदि कर्मेन्द्रियों से ही काम लिया, तो उसे किसी भोग योनि में जाना पड़ता है अर्थात पशु-पक्षी की योनि ग्रहण करनी पड़ती है । यदि कर्मेन्द्रियों से भी शुभ कर्म किये हैं, तो उसे भी भावी इस योनि में उसके शुभ कर्मानुसार भोग सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है । प्रायः आप देखते हैं कि एक कुत्ता भी मोटरों में चढा घूमता है । साबुन आदि से उसे नोकर स्नान कराते हैं और अच्छे अच्छे भोजन खाने को मिलते हैं । यह सब कुछ उसके पूर्व जन्म के शुभ कर्मों का फल ही तो है ।

(आ) मनुष्य ने यदि ज्ञानेन्द्रियों से ही काम लिया है, तो उसे मनुष्य योनि ही पुनः उपलब्ध होती है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पादित कर्मों का फल—बुद्धि—–है, और बुद्धि केवल मनुष्य में ही होती है । पशु–पक्षियों की बुद्धि तो केवल–क्रियात्मक बुद्धि हुआ करती है । यदि मनुष्य ने अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा शुभ कर्म भी किए हैं, तो उनके अनुकूल उसका जन्म भी किसी ऐसे कुल में होती है, जहाँ भोग सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में उसे मिल जाया करती है ।

(इ) मनुष्य ने यदि सकाम कर्मों में भी कुकर्म (शास्त्र विरुद्ध कर्म) किये हैं, तो उसे जीव धारियों में अर्थात वृक्षादि में ईश्वर की न्याय व्यवस्थानुकूल किसी निश्चित कालके लिए अपने दूषित प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगने के लिए आना पड़ा करता है ।

शिष्य–गुरुजी ! क्या जीव अपने कर्मों का भोग भोगने के लिए ही योनियों में आया करता है ?

गुरु—बच्चे ! जीव चाहे मनुष्य योनि में आये या किसी भी अन्य में, उसे अपने पूर्व कृत कर्मों के भोग तो भोगने ही पड़ते हैं । हाँ ! हा

इतना अन्तर अवश्य है कि भोग योनि के जीव को तो जन्म लेना ही पड़ता है, क्योंकि उसमें अपने भावी संस्कारों पर रोक लगाने की बुद्धि नहीं है। आप देखते हैं कि एक पालतू कुत्ते के स्वामी से जब कोई मिलने आता है, तब वह भी उसे भोंकता है और कभी कभी काट भी खाता है। इन कर्मों के भुगतान के लिए उसे अवश्य फिर किसी योनि में जाना पड़ा करता है। मनुष्य ही एक ऐसी योनि है, जिसमें वह अपने पूर्वकृत कर्मों को भी कर सकता है और निष्काम कर्म शैली का अनुकरण कर योनियों के चक्कर से बच भी सकता है। पूर्वकृत कर्मों का भोग तो सबको ही भोगने पड़ा करते हैं। ऐसी ईश्वर की न्याय व्यवस्था है, क्योंकि उसके नियम सदैव अटल और अपरवर्तनीय हैं।

शिष्य–गुरु जी ! जीवन में आनन्द तो सकाम कर्मों से आता है और जितने भोग विषय हैं, वे सब हैं भी इसी मानव जीवन के लिये, फिर निष्काम कर्मों का सम्पादन कर स्वर्ग प्राप्त कर आलसी जीवन बनाना ही तो है।

गुरु–बच्चे ! यह बात नहीं है। यदि यही रहना पसन्द है तो इस ससार को ही स्वर्ग बना लो। सकाम कर्मों का परिणाम–स्वार्थ–है स्वार्थ बना है–काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार–से। इनके भी दो–रूप होते हैं––(१) अच्छा, (२) बुरा।

	अच्छा कर्म	बुरा कर्म
काम–	यदि इस भावना से विषय किया जाता है कि–एकोहं बहु स्याम–तो यह काम का शुभ रूप है। यह केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही है।	यदि केवल विषय-भोग की भावना से प्राकृतिक वा अप्राकृतिक विषय किया जाता है तो यह काम अशुभ रूप है।

क्रोध—एक अध्यापक या पिता अपने बच्चे को ताड़ना करता है, तो उसकी भावना बच्चे को सत्य पथ पर लाने की होती है, न कि उसे कष्ट पहुंचाने की। अतः यह शुभ है।

मनुष्य में क्रोध एक ऐसा दुर्गुण है कि कभी-कभी इसका परिणाम भयंकर भी बन जाता है। फाँसी तक भी सजा इसके फलस्वरूप भोगनी पड़ती है। यह अशुभ रूप है।

लोभ—पढ़ने तथा विद्याध्ययन के लिए लोभ करना शुभ कर्म है। जितनी भी गुरु से प्राप्त की जा सके अच्छी है। विद्या प्राप्ति का लोभ सद्गुण है।

किसी की वस्तु पर अनाधिकार चेष्टा कर उसे प्राप्त करना दुर्गुण है। ऐसा लोभ मनुष्य के पतन का कारण है यह अशुभ है।

मोह—कर्तव्य के पालनार्थ लोभ शुभ है। परिश्रम कर कुटुम्ब का पालन करना कर्तव्य है जो मोह का शुद्ध रूप है।

इन्द्रिय लोलुपता के कारण किसी से मोह करना पतन का कारण है और यह अशुभ है।

बच्चे ! काम, क्रोध, लोभ, तथा मोह का शुद्ध रूप तो ग्राह्य है और अशुद्ध रूप त्याज्य। शुद्ध रूप ही सद्भावना का रूप धारण कर मनुष्य को जीव भाव से आत्म भाव में पहुँचा देता है यदि जगत् में सभी अपने कर्तव्य का इस प्रकार पालन करने लगे तो यह संसार ही स्वर्ग बन जाये।

शिष्य–गुरु जी, जब स्वार्थ सिद्धि से ही लौकिक जीवन ही पारलौकिक जीवन भी बन सकता है, तब निष्काम कर्मों के सम्पादन की क्या आवश्यकता रह गई ?

गुरु—बच्चे ! तू बड़ी भूल कर रहा है। तूने गलत समझा। उस परमात्मा के हाथ में लौकिक तथा पारलौकिक सुख दोनों ही हैं। बिना उनकी कृपा के अर्थात् उससे नाते जोड़े बिना लौकिक जीवन में भी सफलता नहीं होती, इसलिए उसके नियमानुकूल चलने पर ही लौकिक सुख की प्राप्ति हुआ करती है; अतःयदि तू अपना कल्याण चाहता है तो उसी महाप्रभु का सहारा ले। सुन—

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मग्न, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
परमात्मा को जब आत्मा में, लिया देख ज्ञान की आँखों से।
पार हुआ भव सागर से अब कोई क्लेश लगा न रहा॥

शिष्य—गुरुजी ! यह तो बतलाइये कि शरीर से जब जीव निकल जाता है. तब कर्म-संस्कार उसे कैसे पकड़ लेते हैं ?

गुरु—बच्चे ! जीव चाहे किसी भी योनि में क्यों न चला जाय, जीव के अपने कर्म-संस्कार उसका पीछा नहीं छोड़ते।—महर्षि—लिखते हैं—

यः ईशे अस्य द्विपश्चतुष्पदः—

यः—उस महाप्रभु ईश्वर के
ईशे:—नियम काम करते हैं
अस्य—इस जीवका
चतुष्पदः—चाहे चार पैर वालों में जाना हो।

सब ही योनियों पर उसका विशेष नियम काम करता रहता है चाहे जीव मनुष्य योनि में जाय और चाहे किसी भी भोग योनि में जाय।

श्रीमद्भगवदीता में तो इसका स्पष्टीकरण ही कर दिया है।

यथा धेनु सहस्रेसु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृत कर्मः कर्त्तारमनुगच्छति॥

जैसे कोई बछड़ा अपनी माता से अलग हो जाने पर जब वह उसे पुनः देखता है तब चाहे उसकी माता सहस्रों गायों के बीच में भी क्यों न हो ? वह उसी के पास चला जाता है; वैसे ही जीव के द्वारा किये हुये कर्म-फल रूप संस्कार भी उसे दूसरी योनि में पहुंचते ही पकड़ लिया करते हैं। यही ईश्वरीय नियम है।

शिष्य—गुरुजी ! जीव को क्या दण्ड बिना योनियों के नहीं दिया जा सकता है ?

गुरु—बच्चे ! नहीं। ये योनियां जीव के कर्म संस्कारों के भुगतान के लिये ही रखी गई हैं। पूर्व कृत कर्मों के शुभाशुभ संस्कारों के भुगतान के लिये ही जीव को किसी योनि में आना पड़ता है। इस चक्कर से केवल ईश्वरोपासना ही है,जो बचा सकती है। ईश्वर निर्विकार है। जीव भी उस महाप्रभु की भक्ति करके निर्विकार बन जाया करता है। जीव प्रकृति से मुक्त होने पर ही निर्विकार बना करता है। प्रकृति के प्रतिनिधि प्राण से छुटकारा पाना ही मुक्ति-है।

शिष्य—गुरुजी ! जीव का प्राण से छुटकारा कैसे हुआ करता है ?

गुरु—बच्चे ! इसका तो सरल उपाय यही है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम

कस्मै—उस कल्याण कारी
देवाय—दिव्य गुणों से युक्त ईश्वर को
हविषा—प्राणों की आहुति देने का
विधेम—अभ्यास करो।

योगाभ्यास द्वारा पहिले स्थूल प्राण को सूक्ष्म प्राण में बदल दो, फिर प्राणों को, प्राणायाम की सहायता से ब्रह्मरन्ध्र में लेजाकर इनकी अन्तिम आहुति लगादो। फिर आत्मज्ञान स्वतः ही प्राप्त हो जायेगा और जीव को प्राणों से छुटकारा मिल जायेगा।

इस विषय को क्रियात्मक रूप में समझने के लिये मेरी निम्नलिखित पुस्तकें पढ़िये—

१—वैदिक सन्ध्या—(मुक्ति प्राप्ति के लिये आत्मा और परमात्मा के बीच सन्धि पत्र) मूल्य—३)

२—यज्ञ हवन पद्धति—(लौकिक जीवन को किस प्रकार पारलौकिक जीवन में बदला जा सकता है।)—मूल्य २)

३—सप्त श्लोकी गीता—मूल्य १)

उपरोक्त तीनों ग्रन्थ आध्यात्मिक विषय के लिये अमूल्य रत्न है। इनका अध्ययन पाठक को योगाभ्यास करने के लिये प्रेरणा करती रहती है। यह सत्पथ व्यक्तियों के लिये एक तुच्छ सद्भावना युक्त विनय है। प्रत्येक शान्ति प्राप्ति के इच्छकों को इन्हें पढ़कर लाभ उठाना चाहिये। इन पुस्तकों की विशेषतायें इन्हें पढ़ने से ही मालूम होंगी।

पुस्तकें मिलने का पता—

स्वामी योगानन्द सरस्वती, योगाश्रम, प्लेट ९७ आर्य्य नगर, अलवर।

ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता का दिग्दर्शन

जब उपासक को इस बात का निश्चय हो जाता है कि
उसकी और ईश्वर की धन, बल और विद्या में
कोई तुलना नहीं। उसका कल्याण ही ईश्वर
का सहारा लेने में है। इस स्थिति में
पहुंच कर ही वह अपने को सेवक
और ईश्वर को स्वामी समझा
करता है। इस बात की
पुष्टि करने के लिये
ही महर्षि ने
ईश्वर-सत्ता
का दिग्दर्शन
कराया है।

ईश्वर ही सर्वोपरि है। लौकिक जीवन भी उसकी सहायता बिना, सुखमय नहीं बन सकता; इसीलिये उससे मैत्री की आवश्यकता है, जो आर्थिक संकट में सहयोग, शत्रु पर विजय और दैवी आपत्ति से मुक्ति दिला सकती है। इस बात की पुष्टि के लिये ही महर्षि अगला वेदमन्त्र उपस्थित करते हैं।

———

ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता का दिग्दर्शन

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा, येन स्वः स्तभितं
येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

पदच्छेद

येन । द्यौः । उग्रा । पृथिवी । च । दृढ़ा । येन । स्वः ।
स्तभितम् । येन । नाकः । यः अन्तरिक्षे । रजसः ।
विमानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥५॥

अन्वय

येन उग्रा द्यौः च पृथिवीं दृढ़ा । येन स्वः स्तभितम् । येन नाकः
यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

संस्कार-विधि में महर्षि द्वारा की हुई व्याख्या

(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (द्यौः) सूर्य्यादि (च) और (पृथिवीं) भूमिको (दृढा) धारण किया, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण किया और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुख रहित मोक्ष को धारण किया है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक लोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता है और भ्रमण कराता है। हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें।

सरलार्थ

जिस ईश्वर का सूर्य्य और पृथ्वी आदि लोकों पर शासन है; जिस ईश्वर के लौकिक तथा पारलौकिक सुख हाथ में है, और जिस ईश्वर ने आकाश में लोक-लोकान्तरों को रचकर अपनी योग्यता का विशेष परिचय दिया है, उस ईश्वर के प्रति हमारा भी कर्तव्य है कि उससे आर्थिक संकट में सहयोग प्राप्ति के लिए ऐश्वर्य्य, शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिए शक्ति और दैवी आपत्तियों से मुक्ति प्राप्ति के लिए उसको ही अपना सर्वेसर्वा स्वामी मान लें।

यौगिक भावार्थ

जीव-भाव का आत्म-भाव में आना

स्थूल प्राण (स्वार्थ वृत्ति) और सूक्ष्म प्राण (परमार्थ वृत्ति) के बीच में नाभिस्थ चित्रानाड़ी का द्वार आया हुआ है। यह द्वार उस समय तक नहीं खुला करता है, जब तक कि साधक जो २४ घण्टे में २१६०० श्वास लेता है; उन्हें—ओ३म्—का जाप करते-करते कुम्भक की सहायता से २००० पर न ले आये। फिर चित्रा नाड़ी का द्वार खुलते ही स्थूल प्राण ही सूक्ष्म–प्राण का रूप धारण कर मूलाधार स्थित वीर्य्य कोष से जा मिलता है। फिर अस्त्राप्राणायाम द्वारा–स्वाधिष्ठान चक्र–पर आकर मूत्रेन्द्रिय की १००० ज्ञान तन्तुओं को सींच साधक में–आत्म भाव–पैदा करता है। इससे साधक के अन्दर–आत्मबल का प्रादुर्भाव हो आता है, जिसके बल पर–मणिपूर–अनाहत, विशुद्धि चक्रों को साधक पार कर–आज्ञाचक्र–में पहुंच जाता है। मन जो बिना—'प्राण'— के वहिर्जगत् में नहीं ठहर सकता था, साथ-साथ प्राण के आज्ञाचक्रस्थ अपने स्वामी जीवात्मा के पास पहुंच पुरुषार्थहीन बन गया अर्थात् शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जीवात्मा का सच्चा सेवक बन प्राण को स्वामी के कल्याणार्थ —ब्रह्मरन्ध्र—में पहुंचा कर अन्तिम आहुति दे दी अर्थात् परमात्मा की

धरोहर जो जीवात्मा को उसके प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगने के लिए मिली थी, लौटा दी। इस अवस्था में परमात्मा और जीवात्मा के बीच जो अन्तःकरण रूपी भित्ति आई हुई थी वह हट गई और जीवात्मा परमात्मा के सम्पर्क में आकर परमात्म स्वरूप ही बन गया, जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि रूप धारण कर लेता है, वैसे ही जीव भाव भी आत्म भाव में आ गया। यदि यही दशा प्राणान्त तक बनी रही तो जीवात्मा ईश्वरीय नियमानुकूल किसी विशेष अवधि तक जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, वरना किसी महान् आत्मा के रूप में सांसारिक प्राणियों का कल्याण करने के लिए पुनः जन्म ले लिया करते हैं। यही परमात्मा की सर्वोपरि शक्ति का प्रदर्शन है।

ईश्वर ही सर्वोपरि शक्ति है। लौकिक जीवन भी उसकी सहायता प्राप्त किये बिना सुखमय नहीं बन सकता है, इसलिये उससे मैत्री हीं आर्थिक संकट में सहयोग, शत्रु पर विजय और दैवी आपत्तियों पर सान्तुना दिला सकती है।

(गुरु-शिष्य-संवाद)

शिष्य—गुरुजी ! यह तो बतलाइये कि ईश्वर ही सर्वोपरि शक्ति कैसे है ?

गुरु— बच्चे ! सुन—येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा वह महाप्रभु ईश्वर सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है।

येन = जिस महाप्रभु द्वारा
उग्रा = प्रकाशमान
द्यौ = सूर्यादि लोक-लोकान्तर
च = और
पृथ्वीं = अन्धकारमय
दृढा = धारण किये हुये हैं।

इस ब्रह्माण्ड में अनेक लोक-लोकान्तर हैं, किन्तु उनमें नीचे का लोक तो पृथ्वी है और ऊपर का सूर्य उस महाप्रभु ईश्वर की सत्ता पृथ्वी से लेकर सूर्य्य तक सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई है, या यों कहिये कि सर्वत्र उसी के नियमों का पालन हो रहा है। जिसके पास जितना बड़ा राज्य है, वह उतना ही अधिक बलवान भी माना जाता है।

ईश्वर ही सबसे बलवान है ।

जीव की तुलना जब ईश्वर के साथ की जाती है, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ईश्वर का राज्य तो सारे विश्व पर फैला हुआ है और जीव का उसके मन पर भी नहीं । जिसका शासन सारे ब्रह्माण्ड पर है, भला उससे अधिक बलवान कौन हो सकता है ? जीव का कल्याण इसी में है कि वह अपने को सेवक और ईश्वर को अपना स्वामी सच्चे हृदय से मानकर उसकी उपासना किया करें ।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो बतलाइये कि वह महाप्रभु सबसे धनवान कैसे हैं ?

गुरु— बच्चे ! सुख-सामग्री जितनी जिसके पास अधिक है, वह उतना ही अधिक धनवान माना जाता है । उस महाप्रभु ईश्वर के हाथ में तो लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सुख हैं । सुन, वेद कहते हैं—येन स्व. स्तभितं येन नाकः –

येन = जिस महाप्रभु ईश्वर पर
स्वः = लौकिक सुख पुत्र-पौत्रादि तथा धन - धान्यादि सामग्री
नाकः = पारलौकिक आनन्द
स्तभितं = आश्रित हैं ।

उस महाप्रभु ईश्वर के हाथ में लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सुख हैं, या यों कहिये कि जीवन यात्रा उसी की सहायता से सरल और सुखमय हो सकती है । मोक्ष प्राप्ति तो बिना उसकी भक्ति के असम्भव है ।

ईश्वर ही सबसे धनी है ।

वह महाप्रभु ईश्वर इतना समृद्धिशाली है कि लौकिक तथा पारलौकिक जीवन को यदि सुलभ बनाना है तो उसकी कृपा प्राप्त कीजिए । दोनों प्रकार के सुखों में से जीव चाहे किसी भी प्रकार का सुख चाहे, उसे उस ईश्वर की

शरण लेनी ही पड़ती है। बिना उसकी भक्ति किये पारलौकिक सुख की तो

बात ही छोड़िये, लौकिक सुख भी उपलब्ध नहीं हो सकता। उसकी शरण में जाने से ही भौतिक तथा आध्यात्मिक दुःख दूर हो सकते हैं। जीव का कल्याण इसी में है कि वह हृदय से उस महाप्रभु ईश्वर की भक्ति किया करे।

शिष्य—गुरुजी ! यह बात तो समझ में आ गई कि वह महाप्रभु सब का बलवान है और धनवान है। अब यह और समझाइये कि वह महाप्रभु सबसे योग्य भी है।

गुरु— बच्चे ! ईश्वर लोक-लोकान्तरों का रचयिता भी है। ध्यान से सुनो

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः —

यः = जिस महाप्रभु ईश्वर ने अन्तरिक्षे = आकाश में रजसः = लोक-लोकान्तरों को विमानः = विशेष रूप से निर्माण किया है	आकाश में लोक-लोकान्तरों की रचना से उसकी अलौकिक योग्यता का भी परिचय मिल रहा है। इससे यही निश्चित है कि वह सबसे विद्वान है।

ईश्वर सबसे योग्य है।

आकाश में लोक-लोकान्तरों की रचना से ईश्वर की योग्यता का परिचय मिलता है। असंख्य लोक होते हुये भी अपनी मर्यादा और सीमा में ही विचरते रहते हैं। लोक-लोकान्तरों का विधाता होने के कारण ही—जगदीश्वर कहलाता है जीव का भला भी इसी में है कि वह अपने को सेवक और ईश्वर को अपना स्वामी समझे। ऐसे अद्वितीय विद्वान की शरण में जाने से ही सन्मार्ग का प्रदर्शन हुआ करता है।

ईश महिमा

हे देव ! सर्व सुखदायक, मुक्तिधाम। श्रद्धा सहित तुमको बहुशः प्रणाम ॥
तेरी अपार महिमा, कवि कौन गावे। शोभा अलौकिक लुभाय जावे ॥
ये सर्व वस्तु हमरे हित लाग कीन्हीं। तोभी जरा हम नहीं,मनमें विचारें॥
दुष्कर्म कर्मरत धर्म सभी नसावें। भोगे अनन्त दुःख, दोष तुझे लगावें ॥
हो शांत जीव जबलों,न तब समीप जावे।पावें न मुक्ति जबलों,यह वेद गावें॥

शिष्य--गुरुजी ! मुझे न तो धन चाहिये और न बल। मुझे तो केवल आत्म-ज्ञान चाहिये, ताकि मैं इसी जीवन में जीवन-मुक्त अवस्था प्राप्त कर सकूं।

गुरु— बच्चे ! ईश्वरोपासना से ही आत्म-बल प्राप्त हुआ करता है और आत्म-बल ही आत्म-ज्ञान प्रदाता है। आत्म-ज्ञान से जीवन मुक्त हो जाता है, इसलिए—कस्मै देवाय हविषा विधेम—अर्थात तेरा काम है परिश्रम करना किन्तु उसका फल तेरे अधिकार की चीज नहीं है। तू काम करता रह और जब थक जाय, तब ईश्वर को सच्चे हृदय से याद कर। वह सदैव ऐसे व्यक्ति की सहायता करता रहता है जो सारे संकल्प विकल्प छोड़कर उसकी शरण में पहुंच जाता है। फिर ईश्वर भी उसे आत्म-बल प्रदान कर दिया करता है।

शिष्य--गुरुजी ! आप मुझे संक्षेप में इस मन्त्र का आशय समझाइये।

गुरु— रे मूर्ख ! अभी तक तेरी समझ में इसका आशय नही आया। ध्यान से फिर सुन—जब ईश्वर का शासन सर्वत्र है, तब उसकी शरण में चले जाने पर कोई तेरा बाल भी बांका नही कर सकेगा। सांसारिक सुख साधन भी सब ही उसके हाथ में हैं। उसकी शरण में जाने पर तुझे कोई भी आर्थिक संकट नहीं सतायेगा। लोक-लोकान्तरों की रचना और उनके नियमित तथा मर्यादान्तर्गत रहना ही उसकी योग्यता का परिचय है। उसकी शरण में जाने से सभी मार्ग सुलभ हो जाते हैं। वह महाप्रभु धन, बल और विद्या में अद्वितीय हैं, इसलिये उसके साथ मैत्री तीनों प्रकार के दुःखों का नाशक है। लौकिक सुख तो क्या पारलौकिक सुखों का दाता भी वही एक है।

महर्षि श्री मद्दयानन्द सरस्वती द्वारा

(दूसरे मन्त्र से पाञ्चवें मन्त्रतक उपासक की शंका-निवृत्ति)

(१) उपास की यह शंका कि जब–जीव–और–ईश्वर–दोनो चेतन हैं, तब मूंग–मोठ में कौन छोटा और कौन वड़ा ? इस भाव को लेकर–जीव, ईश्वर–के स्वामित्व को स्वीकार कर अपने को दासता की वेड़ी में क्यों जकड़े ?

इस भाव का स्पष्टीकरण करते हुये–महर्षि–लिखते हैं कि जीवन ने मनुष्य रूप धारण करके अपने को एक सामाजिक प्राणी वना लिया है; अतः उसे अपनी जीवन यात्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये अपने से योग्य पुरुष की खोज करनी पड़ा करती है। जीव अल्पज्ञ हैं और ईश्वर सर्वज्ञ। अपनी अल्पज्ञता दूर करने के लिये ईश्वर को अपना स्वामी मान लेने में ही जीव का भला है।

(२) उपासक की दूसरी शंका–प्रारब्धकर्म–भोग तो सवको ही भोगने पड़ा करते हैं। उपासक भी इनसे वच नहीं सकता। फिर–ईश्वर की–दासता–स्वीकार करना–मनुष्य के लिये–अपने ऊपर एक प्रकार का अनावश्यक भार रखने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

महर्षि—उपासक की इस शंका का समाधान इस प्रकार करते हुये कहते हैं कि–ईश्वरापासना–से मनुष्य में आत्म-वल की प्राप्ति हुआ करती है, जो–प्रारब्ध कर्मों के–भोगते समय ऐसा साहस वँधा दिया करता है कि उपासक कठिन से कठिन दुःख घटना चक्र को भी अपने कल्याण का साधन समझने

लगता है। इस प्रकार ईश्वरोपासना वह अचूक साधन है जो मनुष्य के भावी नये संस्कारों पर तो एक ऐसी रोक लगा दिया करता है कि उपासक को अपने जीवन लक्ष्य प्राप्ति में फिर कोई अड़चन नहीं आती।

(३) उपासक की तीसरी शंका कि मनुष्य मात्र को काम तो अपने जीवन में करने ही पड़ते हैं। कर्म भी—सकाम कर्म—और—निष्काम कर्म दो प्रकार के होते हैं; जिनके सामूहिक कर्म-फलको ही—प्रारब्ध—कहते हैं। सकाम कर्मों से जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सुगमता रहती है; फिर मनुष्य—निष्काम कर्मों—के चक्कर में क्यों पड़े?

इस शंका का समाधान करते हुये—महर्षि—उपासक को समझाते हैं कि निष्कामकर्मों के फलस्वरूप ही ईश्वरोपासना के सद्भाव जाग्रत हुआ करते हैं जो—आत्म-बल—प्रदाता होते हैं। आत्मबल से सकाम कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई दुःखद घटनाओं के प्रभाव ही शान्त नहीं हो जाते, बल्कि आत्म-ज्ञान—उत्पन्न होकर—मोक्ष-प्राप्ति—भी सुलभ हो जाती है। सकाम कर्मों से—स्वार्थ—की उत्पत्ति हुआ करती है, जो उपासक को—परमार्थ—से दूर रख मोक्ष प्राप्ति से वञ्चित रख देता है; इसलिये जब कर्म ही करना है तो फिर—निष्काम कर्म—ही क्यों न करे? ताकि मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन सके।

महर्षि—उपासक को फिर समझाते हैं कि यदि जीवन की आवश्यकता पूर्ति के लिये ही सकाम कर्म करना चाहते हो, तो भी यह याद रखिये कि लौकिक सुख भी उस महाप्रभु की कृपा के बिना मिलना सम्भव नहीं क्योंकि—लौकिक—तथा—पारलौकिक—सुख दोनों ही उसके हाथ में हैं। उससे न तो कोई अधिक—धनवान—है, न—बलवान—और न—विद्वान;—इसलिये एकामी व्यक्ति का भला भी इसी में है कि वह भी अपनी—याचना उसी—अक्षय भण्डारी—से किया करे, ताकि अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये बारम्बार मित्रों का परिवर्तन तो न करना पड़े। याचना में प्राप्त हुई है; इस-वस्तु भी अब उपासक को उस पवित्र निर्विकार महाप्रभु से ही प्राप्त हुई।

लिये उसकी मनोवृत्ति भी इसे सदुपयोग में लगाने की ही होगी। फिर तो मनुष्य अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये भी यदि ईश्वरोपासना में जुट जाय, तो उसका कल्याण हो जाय। यह पूर्ति चाहे—सकाम कर्म योग—द्वारा हो या निष्काम कर्म योग—द्वारा। आगे चलकर वह सकाम कर्म उपासना भी, याचना में प्राप्त हुई वस्तुओं के सदुपयोग के कारण—अकामकर्म उपासना—का रूप धारण करलेती है। यही—निष्कामकर्म योग—शैली है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य के लिये—ईश्वरोपासना—अनिवार्य हैं।

———

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने उपासक की सभी
शंकायें वेद-वर्णित पाँच मन्त्रों द्वारा दूर करके
उसकी इच्छानुकूल जीवन की आवश्य—
कताओं के लिये ईश्वर से प्रार्थना
करने का आदेश किया, क्योंकि
वह लौकिक जीवन में ही
आनन्द मानता था ।

यह मत कहो जगत् में कर सकता क्या अकेला ।
लाखों में काम करता है, शूरमा अकेला ॥

आकाश में करोड़ों तारे हैं टम—टमाते,
पर अन्धकार दूर करता है चन्द्रमा अकेला ॥

था कुल जगत् विरोधी, तिसपर ऋषि दयानन्द ।
वैदिक धर्म का झण्डा, फहरा गया अकेला ॥

संयमी और परोपकारी बनने केलिये ईश्वर से प्रार्थना

ओ३म् प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।६।।

पदच्छेद

प्रजापते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परिता । बभूव । यत्कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ।।६।।

अन्वय

प्रजापते ! त्वत् अन्य ता एतानि विश्वा जातानि परिता न बभूव । ते नः परि बभूव । यत्कामाः ते जुहुमः । तत् न अस्तु वयं रयीणाम् पतयः स्याम ।

संस्कार विधि में महर्षि द्वारा की हुई व्याख्या

(प्रजापते) हे सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (त्वत्) आप से (अन्य) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न भूगोलादि जगत् को बनाने वाला और (परिता) व्यापक (न) नहीं (बभूव) है । (ते) उस आपके भक्ति करने हारे हम चेतनादिकों को (नः) नहीं (परि, बभूव) तिरस्कृत

करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। (यत्कामा,) जिस-जिस पदार्थ की कामना वाले होकर हम लोग भक्ति करते हैं (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वांछा करें (तत्) वह कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे, जिससे (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) ऐश्वर्य्य के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें।

सरलार्थ

हे ईश्वर! आप ही लोक-लोकान्तरों के स्वामी हैं। आप सर्वत्र व्यापक भी हैं। आपकी तुलना करने वाला कोई नहीं। आप ही सर्वोपरि हैं। आप अपने भक्तों पर दया करने वाले हैं अर्थात् उनकी प्रत्येक कामना को पूरा किया करते हैं। आप से यही प्रार्थना है कि मैं अकेला ही नहीं, किन्तु मेरे सभी भाई ऐश्वर्य्यशाली हों, अर्थात् हम सभी संयमी और परोपकारी बन जावें।

यौगिक भावार्थ

मनुष्य अपने जीवन में ही समृद्धिशाली बन जाया करता है, यदि वह अपने दैनिक कार्य्यों का सम्पादन करता हुआ ईश्वर को सर्वव्यापी, शक्तिशाली और न्यायकारी माने। तत्फल-स्वरूप वह आन्तरिक सदाचारी परोपकारी तथा छलकपट से रहित बन संयमी बन जायेगा। लोगों में उसका विश्वास जमेगा और उसके कार्य्यों में हर प्रकार से उन्नति होती रहेगी। उसका ऐसा संयमी तथा परोपकारी आचरण ही निष्काम भाव की शिलारोपण बनकर आगे उसका जीव-भाव आत्म-भाव में बदल जायेगा। ऐसे ईश्वर भक्त का लौकिक जीवन ही पारलौकिक जीवन का साधन बन दूसरों के लिए अनुकरणीय बन जाया करता है। ऐसा व्यक्ति ईश्वर का सच्चा भक्त हुआ करता है।

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपासक की ईश्वर से प्रार्थना

(गुरु–शिष्य –सम्वाद)

गुरु—वच्चे ! कहो – अब भी तेरी शंकायें दूर हुई या नहीं ?

शिष्य–गुरु जी ! अब मेरी कोई भी शंका शेष नहीं है। अब मेरी समझ में आ गया कि ईश्वर सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा निस्संदेह सबका स्वामी है और सर्वत्र उसी के नियमों का पालन होता है।

गुरु—वच्चे ! अब मैं तुझे ईश्वर से याचना करने की विधि बतलाता हूं। ध्यान से सुन–तू हर घड़ी यही कहाकर–प्रजापते न त्व देतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता वभूव। हे स्वामिन् ! हम सब ही आपकी प्रजा हैं। आपकी न्याय व्यवस्थानुकूल हमें अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना है; किन्तु अब हम आपकी शरण में आ गये हैं और पूरी-पूरी आशा है कि आप हमारे कर्म फलों का भुगतान ऐसी सरल तथा सुन्दर रीति से करवा देंगे कि हमारी भावी उन्नति में कोई बाधा न पड़े।

शिष्य–गुरु जी ! वहुत अच्छा। सबसे वड़ी प्रसन्नता मुझे यह है कि मेरे पाप कर्मों के भुगतान से मेरी आत्म शुद्धि हो जायेगी। मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि—जिसमें उसका नहीं विकास, ऐसा कोई फूल नहीं है। मैंने देख लिया सब ओर, उससा मिला नहीं कोई और सबका वो ही है सरमोर, इसमें कुछ भी भूल नहीं है।

उसका प्रेम सच्चिदानन्द, किसको मंगल मूल नहीं है ॥

उसका वेडा होगा पार, जिसके वो प्रतिकूल नहीं है ।

मन में हुई शान्ति आज, मेरा संशय और नहीं है ॥

गुरु—बच्चे ! यह बिल्कुल सच है । जब कोई व्यक्ति उस ईश्वर का आश्रय सच्चे हृदय से लेता है, तब वह भी उसे ऐसी शक्ति प्रदान कर दिया करता है; जिसके सहारे उसके बुरे सस्कारों को भी उसकी आत्म-शुद्धि का ही कारण बनना पड़ता है । फिर यह आत्म शुद्धि ही उसके जीवनोद्धार में सहायक बन जाया करती है ।

शिष्य-गुरु जी ! मैं यह बात भली प्रकार समझ चुका हूं कि वह महाप्रभु सारे विश्व का स्वामी है और सारा जगत् उसका भिखारी है । मेरी तो अब उससे यही विनय है—

दर छोड़कर तुम्हारा, किस दर पै जाके माँगू ।

कृपा की दृष्टि कीजे, तुम हो कृपालु भगवन् ॥

गुरु--बच्चे ! वह महाप्रभु दयालु है । अवश्य तेरी भी कामना पूरी करेगा,

क्योंकि--यत कामस्ते जुहुमः—

यत् = जिन	जो कोई भी उस महाप्रभु की शरण में
कामा = कामनाओं को (लेकर)	जाता है और सच्चे हृदय मे याचना करता है, फिर वह भी किसी को अपने
ते = तेरे पास	द्वार से खाली हाथ नहीं लौटाता ।
जुहुमः = पुकार करता है	याचक की इच्छा पूर्ति भी केवल उसी के यहाँ होती है ।

गुरु—बच्चे ! अब यह तो बताओ कि तेरी कामना है क्या ?

शिष्य–गुरु जी ! मेरी कामना तो—वयं स्याम पतयो रयोणाम् ।

वयं = हम	मेरी तो अब ईश्वर से यही प्रार्थना है
स्याम = हो जावें	कि केवल मैं ही नहीं, किन्तु हम सब
पतय: = स्वामी	धन, बल और विद्या से सम्पन्न हो
रयीणाम् = ऐश्वर्य्य	जावें। हमारे अन्दर संयम और परो-
(सद्गुणों से युक्त)	कार की भावनायें जाग्रत हो उठें।

गुरु—बच्चे ! तूने—अहम् (मैं) शब्द का प्रयोग न करके—वयम्—(हम) शब्द का प्रयोग क्यों किया है ?

शिष्य—गुरु जी ! अपने लिये ही कामना करनी—स्वार्थवृत्ति—के अन्तर्गत आ जाती है। आपने मुझे पहले ही समझा दिया है कि स्वार्थवृत्ति दुःख का मूल है और अन्त में मनुष्य को उस पर पश्चाताप करना ही पड़ता है, क्योंकि परमार्थ ही ईश्वरीय भावना है। मैं तो अब यही चाहता हूँ कि हम सभी जो उसकी उपासना करें, सद्गुणों से सम्पन्न हो जायें।

ईश्वर से भक्त की प्रार्थना

दयालु नाम है तेरा, पिता अब तो दया कीजे।
हरि सब तुमको कहते हैं, मेरे दुःख हर लीजे॥
बहुत भटका फिरा दर-दर, शरण तज हे पिता तेरी।
पकड़कर हाथ अब तो, लाज रख लो तुम पिता मेरी॥
तुम्हारी भूलकर महिमा, किए अपराध बहु तेरे।
शरण आया हूँ, हे भगवन् ! क्षमा कीजे, पाप सब मेरे॥

भक्त की ईश्वर से प्रार्थना का सारांश

हे ईश्वर ! निस्संदेह आप हमारे स्वामी हैं। आप ही सर्वोपरि हैं। मैं आपके द्वार का भिखारी हूँ। आशा है कि आप मुझे सद्बुद्धि प्रदान करेंगे, जिससे मैं संयमी और परोपकारी बन आपकी कृपा का पात्र बन सकूँ।

ऐश्वर्य सम्पन्न होने की विधि

महर्षि ने जब भक्त की इच्छा ऐश्वर्य सम्पन्न बनने की देखी, तब उन्होंने भी उसे यह समझाया कि उसे इस आशय की पूर्ति के लिए उस ऐश्वर्य्य सम्पन्न ईश्वर को अपना पिता मान लेना चाहिए, ताकि पुत्र नाते से पिता की सम्पत्ति का स्वभावतः ही वह अधिकारी बन जावे।

भक्त की इच्छा पूर्ति के लिए महर्षि लिखते हैं

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।।७।।

पदच्छेद

सः । नः । बन्धुः । जनिता । सः । विधाता । धामानि । वेद । भुवनानि । विश्वा । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । तृतीये । धामन् । अधौरयन्त ।।७।।

अन्वय

सः नः बन्धुः जनिता, सः विश्वा भुवनानि धामानि वेद, यत्र तृतीये धामन् अमृतम् आनशानाः देवा अधौरयन्त ।

संस्कार विधि में महर्षि द्वारा की हुई व्याख्या

हे मनुष्यों ! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत का उत्पादक (सः) वह (विधाता)

सब कर्मों को पूर्ण करने वाला (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोक मात्र और (धामानि) नाम, स्थान, जन्मों को (वेद) जानता है और (यत्र) जिस (तृतीये) साँसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्द युक्त (धामन्) मोक्ष स्वरूप धारण परमात्मायें (अमृतम्) मोक्ष को (आनाशोना:) प्राप्त होने (देवा:) विद्वान करने वाले लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छा पूर्वक विचारते हैं वही परमात्मा अपना गुरु आचर्य्य राजा और न्यायाधीश हैं। अपने लोग मिलकर सदा उसकी भक्ति करें।

सरलार्थ

वह ईश्वर हमारे भ्राता के समान सुखदायी और पिता के समान रक्षक है। उसी की न्याय की व्यवस्था के अनुसार हमें अपने कर्मों का भोग भोगना पड़ता है। विश्व में कोई ऐसा स्थान नहीं जो उससे अपरिचित है, क्योंकि वही इन सब का रचयिता है। साथ ही वह सर्वज्ञ है और सर्वत्र हैं। मेरी इच्छा अब उससे किसी भी प्रकार के एश्वर्य्य के लिए नहीं है। मैं अब केवल यह चाहता हूं कि मुझे भी अन्य मुक्ताओं की भान्ति अपने पास रख लें।

यौगिक भावार्थ

भक्त की हार्दिक इच्छा

भक्त के हृदय में ईश्वर के प्रति हार्दिक प्रेम होते ही, वह उसे पिता तुल्य समझने लगता है और इस भाव से कि उसके पिता को ही तो उसके पापों का निर्णय करना है, इसलिए वह अपने कर्म फलों में भी निर्भय हो जाता है। अब उसकी ईश्वर से यही प्रार्थना होती है—भिक्षा में मुझे आप ब्रह्मलोक में रहने की आज्ञा दीजिए, ताकि मैं भी वहाँ पर सदैव आनन्द के साथ मुक्तात्माओं में स्वेछा पूर्वक विचरता रहूं।

ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाने के विषय में

(गुरु–शिष्य–सम्वाद)

गुरु—वच्चे ! तुम्हारी इच्छा यदि ऐश्वर्य्य सम्पन्न होने की ही है, तो —सोनों वन्धुर्जनिता—तुम ईश्वर को अपना वन्धु मानलो। फिर वह अवश्य तुम्हारी मनोकामना पूरी कर देगा। बन्धु होता ही वह है, जो सुख-दुःख में काम आये।

शिष्य–गुरुजी ! वन्धु शब्द तो माता, पिता, भाई आदि सबका ही प्रतीक है। फिर उस ईश्वर को क्या माना जाय ?

गुरु—वच्चे ! अच्छा हो, यदि तुम उसे अपना भाई मानलो। उसके साथ हृदय से भ्रातृभाव स्थापित करलो। भ्रातृभाव तो दो व्यक्तियों के बीच उस दशा में ही ठहरा करता है, जबकि एक भाई ऐश्वर्य्य सम्पन्न है, तो यह अपने दूसरे भाई को भी अपने सदृश ऐश्वर्य्य सम्पन्न है, तो वह अपने दूसरे भाई को भी अपने सदृश ऐश्वर्य्य महाप्रभु ईश्वर के साथ भ्रातृभाव में स्थापित हो जायेगा, तव वह भी तुझे अपने जैसा ऐश्वर्य्य सम्पन्न वना लेगा।

शिष्य–गुरुजी ! यह वात मेरी समझ में नही आई, क्योंकि प्रायः ऐसा भी अनुभव में आया है कि एक भाई दूसरे भाई के प्राण लेने तक उतारू हो जाता है, इसलिए यह वात संशय रहित नहीं है कि भ्रातभाव रखने पर इप्सित वस्तु की प्राप्ति हो ही जायेगी।

गुरु—बच्चे ! यह बात है तो सही। अच्छा। उसके साथ भ्रातभाव का नाता न सही, पितृ भाव का नाता मानलो। पिता तो अपने पुत्र का स्वाभाविक रूप से भला ही चाहा करता है। पिता यदि अपने पुत्र का शुभ चिन्तक न भी हो, तो भी पुत्र का पिता की सम्पत्ति से उसका जन्म-सिद्ध अधिकार तो कोई छीन नहीं सकता। पिता की सम्पत्ति का पुत्र ही अधिकारी होता है। जिसका पिता ऐश्वर्य्य सम्पन्न है, उसका पुत्र भी अवश्य एक दिन ऐश्वर्य्य सम्पन्न हो जायेगा।

शिष्य-गुरुजी ! मुझ जैसा पापी उस निर्विकार ईश्वर का पुत्र बनने का अधिकारी कैसे हो सकता है ?

गुरु—बच्चे ! —स नो बन्धुर्जनिता— वह सबका पिता है, चाहे कोई पापी है या पुण्यात्मा। इतना ही नहीं, किन्तु -स विधाता—वह न्यायाधीश भी हैं। तुम अपने पूर्व कृत कर्मों के फलों से भी भय-भीत न हो, क्योंकि उनका दण्ड देने वाला फिर तुम्हारा पिता ईश्वर ही तो है। तुम्हारा जब उसके साथ पिता पुत्र का नाता स्थापित हो जायेगा, तब तुम्हें दण्ड पाने के भय से भयभीत होने की आवश्यकता भी नहीं, क्यों कि वह कोई तुम्हारा शत्रु तो है नहीं, जो बदला लेने की भावना रखता हो वह है अब तो तुम्हारा पिता ही। पिता यदि अपने पुत्र को दण्ड भी देता है, तो भी वह उसे काष्ट देने की भावना से तो देता नहीं। उसकी भावना तो केवल उसके सुधार की ही होती है, इसलिए तुम्हारे भयभीत होने की कोई आवश्यकता भी नहीं।

शिष्य-गुरुजी ! बहुत अच्छा ! अब तो मुझे भी विश्वास हो आया है और जिव्हा पर भी बारम्बार यही शब्द आ रहे हैं—

विधाता वह हमारा है, वही विज्ञान दाता है।
बिना उसकी दया कोई, नहीं आनन्द पाता है ॥

गुरु—बच्चे ! अब क्या विचार है ? ऐश्वर्य्य चाहते हो या और कुछ ?

शिष्य-गुरुजी ! अब तो मेरी मनोवृत्ति ही बदल गई। ऐश्वर्य्य की तो चाह ही जाती रही। आपने पहिले भी कहा था कि ईश्वर से ऐसी वस्तु माँगो, जिससे सदैव के लिये कल्याण हो जाय। एश्वर्य्य तो अस्थायी वस्तु है और उससे उत्पन्न हुआ सुख भी उसी के समान अस्थायी हुआ करता है। फिर वह सुख भी कितने दिन का ? सच कहा है—

कह रहा है आसमाँ, यह सब समाँ कुछ भी नहीं।
रोती है शबनम, कि वे रंगे जहाँ कुछ भी नहीं॥
जिनके महलों में, हजारों रंगके फानूस थे।
झाड़ उनकी कब्र पर है, और निशाँ कुछ भी नहीं॥
तख्त वालों का पता देते हैं, तख्ते गोरके।
वह भी चन्द रोजा, बाद अज़ा कुछ भी नहीं॥

गुरूजी ! अब तो वाणी से भी यही निकलता है—

धामानि वेद भुवनानि विश्वा

धामानि = उन स्थानों को
वेद = जानता है
भुवनानि = लोकों को
विश्वा = सब

हे ईश्वर ! आपने ही तो लोक लोकान्तरों की रचना की है। आप तो उन के विषय में सब कुछ जानते हो। कहाँ कोनसा लोक है ? और उनकी क्या दशा है ? यह आपसे छुपी हुई बात नहीं है।

गुरु—बच्चे ! तुम्हारा लोक लोकान्तरों के जानने से क्या तात्पर्य्य है ? क्या तुम किसी लोक विशेष में जाना चाहते हो ?

शिष्य—गुरु जी ! हाँ—यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन् नध्यैरयन्त—

यत्र = जहाँ
देवा: = मुक्तात्मायें
अमृतम् = मोक्ष-सुखको

हे भगवान् ! मुझे अब ऐश्वर्य्य की इच्छा नहीं है। मेरी इच्छा तो ब्रह्म-लोक में जाने की है।

[illegible] = [illegible] हुए
तृतीये = ब्रह्मलोक को
अध्यैरयन्त = स्वेच्छापूर्वक विचरते रहते हैं।
धामन = धाम में

[illegible] स्वेच्छापूर्वक विचरती रहती है, अर्थात् मैं तो मोक्ष चाहता हूँ।

गुरु—वच्चे ! तेरे हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा और प्रेम वढ़ता ही जा रहा है।

सच कहा है—

जलवा कोई देखे, गर इकवार ईशका।
हो जाय हमेशा को, खरीदार उसीका ॥

लवलीन हुआ उसीमें, मिटाकर जो दुई को।
वह यार हुआ उसीका, यह कहना हर किसी को ॥

उपसंहार

अन्तःकरण की शुद्धि ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये अनिवार्य्य

भक्त द्वारा ऐश्वर्य्य की अभिलाषा त्याग कर ब्रह्मलोक में रहने की अभिलाषा प्रकट करने पर, महर्षि कहते हैं कि ईश्वर की ओर से वहाँ पहुँचने के लिये कोई प्रतिवन्ध नहीं है, किन्तु वहाँ पहूंचने के लिये है सव के लिये एक ही मार्ग ओर वह भी केवल अन्तःकरण की शुद्धि ।

महर्षि लिखते हैं—

ओ३म् । अग्ने नय सुपथाराये अस्मान्, विश्वानि देव वायुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमः उक्तिम् विधेम ।।८।।

पदच्छेद

अग्ने । नय । सुपथा । राये अस्मान् । विश्वानि । देव । वयुनानि । विद्वान् । युयोधि । अस्मत् । जुहुरणंम् । एनः । भूयिष्ठाम् । ते । नम उक्तिम् । विधेम ।

अन्वय

अग्ने ! देव विद्वान् । अस्मात् राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय । अस्मात् जुहाराणम् एनः युयोधि । ते भूयिष्ठाम् नम उक्तिम् विधेम ।

संस्कार विधि में महर्षि द्वारा की हुई व्याख्या

हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप सब जगत् को प्रकाश करने वाले (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर, आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं। कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (सुथपा) अच्छे धर्मयुक्त आप लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तमकर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्मनो (युयोधि) दूर कीजिये। इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकारकी स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें।

सरलार्थ

हे ज्ञान स्वरूप ! सृष्टि के रचयिता, सारे सुखों के भण्डार और अद्वितीय विद्वान, आप कृपा करके हमारी मनोवृत्तियों को उत्तम कर्मों की ओर प्रेरित कीजिए, ताकि हम ज्ञान और विज्ञान में समुन्नत होकर आपकी स्तुति, उपासना और प्रार्थना सदा ही किया करें और सदैव ही आनन्द का अनुभव करते रहें।

यौगिक भावार्थ

प्राणायाम द्वारा स्थूल-प्राण को सूक्ष्म प्राण में परिवर्तित करके इसकी अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्र में दे दी जाती है, तब अब अन्तःकरण के सभी कर्मचारियों को अपने-अपने कार्य्यों से मुक्त (Retired) होना पड़ा करता है। इसे ही अन्तःकरण की शुद्धि कहते हैं। तत्पश्चात ही साधक जीव भाव से आत्म भाव में आया करता है। जीव की यह अवस्था ही मोक्ष है। इसे ही ब्रह्मलोक में मुक्तात्माओं में निवास करना कहते हैं। यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

अन्तःकरण की शुद्धि ही मुक्ति-प्राप्ति का साधन है ।

(गुरु-शिष्य संवाद)

गुरु— बच्चे ! अब बतलाओ, क्या चाहते हो ?

शिष्य– गुरुजी ! मैं तो ब्रह्मलोक में मुक्त आत्माओं के पास रहना चाहता हूं ।

गुरु--बच्चे ! बहुत अच्छा ! इसके लिये अब तू ईश्वर की बांह पकड़ ले । विद्वज्जन उसे (हे अग्ने !) नाम से सम्बोधित किया करते हैं, क्योंकि अग्नि में दो गुण होते हैं–(१) जो कुछ उसमें डाला जाय उसे जला देती है, (२) फिर प्रकाश देने लगती है ।

शिष्य–गुरुजी ! ईश्वर की अग्नि से क्या तुलना ?

गुरु--बच्चे ! जैसे अग्नि में कूड़ाकरकट पड़ने से सब ही भस्म हो जाता है और फिर प्रकाश देने लगती है, वैसे ही जीव का ईश्वर से सम्बन्ध होते ही जीव के (मनुष्य के) अन्दर से बुराइयां दूर हो जाती हैं तत्फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अब साधक में आत्मज्ञान का प्रादुर्भाव स्वतः ही हो जाया करता है ।

शिष्य--गुरुजी ! अन्तःकरण की शुद्धि होने पर आत्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग तो मुझे कठिन प्रतीत होता है । मैं तो एक ही बात चाहता हूं और वह यह है–नय सुपथा–अर्थात किसी सरल मार्ग से मुझे ब्रह्म

लोक में पहुंचा दीजिए। मुझे तो कोई ऐसा मार्ग बतलाइये, जिसका मैं सरलता पूर्वक अनुकरण कर सकूं।

गुरु—बच्चे ! फिर तो तू ईश्वर की बांह पकड़ ले। बस, तेरा बेड़ा पार हो जायेगा,—न उस समान दाता, न कोई और है दानी।—

शिष्य—गुरुजी ! जब उस समान कोई दाता और दानी नहीं है, तब मैं भी यही चाहता हूँ—राये अस्माम्—हमें ऐश्वर्य्य-सम्पन्न बनादे, किन्तु मेरा ऐश्वर्य्य क्या है ? यह सुन लीजिये। आपके कथानानुसार मैं अब—भद्रं आसुव—जीवन का सर्व श्रेष्ठ पदार्थ—मोक्ष—ही चाहता हूँ; किन्तु एक विनय और भी है और वह यह है कि मोक्ष मेरे अकेले का ही भोग-पदार्थ न हो, अर्थात् ब्रह्मलोक के आनन्द का अनुभव मैं अकेला ही न करूं, किन्तु जगत् के सभी प्राणी जो ईश्वर-भक्त हैं, मेरे साथ २ ही ब्रह्मलोक में चलें और वहाँ के आनन्द का अनुभव करें'

गुरु—बच्चे ! मोक्ष प्राप्ति की यदि सबकी ही इच्छा है, तो सब ही प्राप्त कर सकते है, किन्तु सबको भी एक बात अवश्य करनी पड़ेगी और वह यह है—विश्वानि दुरितानि परासुव—में अपनी-अपनी बुराइयों का त्याग करके निर्विकार पहले बनजायें।

शिष्य—गुरुजी ! यह तो किसी को पता ही नहीं है कि वे बुराइयां कौन-कौन सी हैं ? कोई नहीं जानता कि उसने पूर्व जन्मों में क्या-क्या पाप किये हैं ?

गुरु—बच्चे ! ईश्वर सर्वज्ञ है। वह सबके पर्दों को जानता है; इसीलिये कहा है—विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्—

विश्वानि—सारी दुरितानि—बुराइयों को देवः—ईश्वर विद्वान्—जानता है	वह ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वान्तर्यामी है। वह तो सबके ही पापों को जानता है।

शिष्य—गुरुजी मैं तो इतना ही जानता हूँ कि अभी मेरे पाप कर्म शेष रहे हैं, जो मुझे ईश्वर से मिलने नहीं देते। यदि मेरे पाप कर्म शेष न होते, तो मैं आज मुक्तात्माओं के साथ होता।

गुरु—बच्चे! ईश्वरोपासना ही पापों का नाश करने वाली है; किन्तु उपासना होनी चाहिये शुद्ध अन्तः करण से।

शिष्य—गुरुजी! मेरी तो ईश्वर से इतनी ही प्रार्थना है कि

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः

युयोधि—दूर कीजिये अस्मत्—हमसे जुहराणम्—बुरे एनः—कर्मों को	हे ईश्वर! हमारे पापों का नाश कीजिये।

गुरु—बच्चे! यह तो बतलाइये कि तेरा भी कोई कर्त्तव्य है या सब ईश्वर के ही हैं? तू तो कुछ न कर। सब कुछ तेरे लिये ईश्वर ही करता रहे।

शिष्य—गुरुजी! मेरा कर्त्तव्य तो केवल इतना ही है कि—

भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम

भूयिष्ठाम्—हर प्रकार से नम उक्तिम्—नम्रता पूर्वक प्रशंसा विधेम—किया करूँ।	मेरा तो केवल एक ही कर्तव्य है कि मैं उसकी स्तुति, उपासना और प्रार्थना करता हूँ या यों कहिये कि—

१—ईश्वर की स्तुति करूँ, ताकि उसके जैसे गुण मेरे अन्दर आ जांय।

२—उसकी उपासना करूँ, ताकि मेरा अभिमान दूर हो जाय।

३—उसकी प्रार्थना करूँ, ताकि उससे सहायता पाकर अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति कर सकूँ।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती को धन्यवाद

महर्षि ने—विश्वानि देव—से ईश्वरोपासना का प्रकाश आरम्भ करके अग्ने नय सुपथा—से उपसंहार का कितना सुन्दर कार्य्य किया है। यह उनकी अलौकिक बुद्धि का ही चमत्कार है।

शतशः धन्यवाद

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने उपासना
के मार्मिक रहस्य को विश्व के कल्याणार्थ
सरलाति सरल बनाकर अपनी अलौकिक
प्रतिभा तथा सद्भावना का जहाँ परिचय
दिया है, वहाँ सरलाति सरल रीति से
ईश्वर निष्ट मार्ग का प्रदर्शन भी
कराया है। यदि अब भी मानव
समाज इसका हार्दिक स्वागत
न करें, तो यह उनकी अपनी
भारी भूल होगी।

फिर तो यही कहना पड़ेगा—

यह माना इल्म अच्छा, दवा अच्छी तबीब अच्छा।
पर होगा रोग उसी का दूर, है जिसका नसीब अच्छा।।

उपसंहार

महर्षि ने उपासना के मन्त्रों में यह दर्शाया है कि जड़का जड़के साथ और चेतन का चेतन के साथ ही मिलाप हुआ करता है। जीव और ईश्वर दोनों ही चेतन हैं; किन्तु जीव प्रकृति से मिलकर विकार युक्त हो गया है और ईश्वर प्रकृति (माया) रहित होने के कारण निर्विकार है । माया जीव के साथ उस समय तक चिपटी रहती हैं, जवतक कि मनुष्य में स्वार्थ वना रहता है। स्वार्थ के नष्ट होते ही जीव भी निर्विकार बनजाया करता है। फिर दोनों का मेल हो जाना स्वाभाविक है अर्थात् जीव भी आत्मभाव में आ जा करता है अर्थात् जीव अब ब्रह्मलोक का अधिकारी वन जाता है। स्वार्थ का नाश ईश्वर-स्तुति, उपासना और प्रार्थना के निरन्तर करते रहने से ही हुआ करता है। स्वार्थ का नाश होते ही, मनुष्य में आत्मवल आ जाया करता है, जिसकी सहायता से मनुष्य अपने प्रारव्ध कर्मों का भुगतान इसी जीवन में कर दिया करता है। फिर उसका अन्त: करण भी शुद्ध हो, उसमें आत्मज्ञान का प्रादुर्भाव हो आता है। यह आत्म-ज्ञान ही जीव और ईश्वर में मेल कराकर जीव को ब्रह्मलोक का अधिकारी वना देता है। इसी बात को महर्षि ने ईश्वरोपासना के आठ मन्त्रों में समझाया है। ओ३म् तत्सत् ।

ईश्वरोपासना के आठ मन्त्रों का अर्थ सहित

शब्द–कोष

अग्रे = सृष्टि की रचना से पूर्व
अमृतम् = मोक्ष (है)
= मोक्ष सुख को।
अस्य = इसका
अन्तरिक्षे = आकाश में
अन्य = अतिरिक्त, अन्य कोई
अस्तु = हो जावे
अध्यैरयन्त = इच्छापूर्वक भ्रमण करते हैं।
अग्ने = प्रकाश स्वरूप भगवन्
अस्मान् = हमको
अस्मत् = हमसे
आनशाना: = प्राप्त होते हुए
आसुव = दीजिये
आसीत् = था
आत्मदा: = आत्म ज्ञान का दाता
इत् = ही
इमाम् = इस
ईशे = शासन करता है।
उत् = और
उपासते = उपासना करते हैं
उग्रा = तीक्ष्ण स्वभाव वाले

एक: = अकेला = एक
एतानि = इन (प्रत्यक्ष)
एन: = पाप को
कस्मै = सुख के भण्डार = सुख स्वरूप
च = और
चतुष्पद: = चार पैर वाले
छाया = आश्रय
ज त: = उत्पन्न करने वाला
जगत: = जगत् का
जनिता = पिता (है)
जातानि = उत्पन्न हुयों को।
जुहुराणम् = कुटिलता युक्त
जुहुम: = पुकारे
तत् = वह
तानि = उन (अप्रत्यक्ष)
ते = आपको = आपकी
तृतीये = तीसरे
त्वत् = मुझसे
देव = हे दाता = हे परमात्मन्
देवाय = परमात्मा के लिए
देवा: = विद्वान लोग
द्विपद: = दो पैर वाले

दुरितानि = बुराइयों को
दृढ़ा = धारण किया है
द्यौः = सूर्यादि को
द्याम् = सूर्य को
दाधार = धारण किया है
धामन् = धाम को = मोक्ष को
न = नहीं
नः = हमको = हमारी, हमारा
नाकः = मोक्ष को धारण किया है
नमउक्तिम् = स्तुति को
नय = ले चलिये
निमिषतः = अप्राणधारी
परा + सुव = दूर कीजिये
पतिः = स्वामी
पृथिवीम् = पृथ्वी को
प्राणतः = प्राण वाले
प्रजापते = हे सारी प्रजा के
पतयः = स्वामी [स्वामिन्]
परि + बभूव = तिरस्कृत कर सकता है
प्राशिषम् = शासन = शिक्षा को
बलदाः = तीनों प्रकार के बल देने वाला
बभूव = है
बन्धुः = बन्धु है
भद्रम = कल्याण कारक [है]
भूतस्य = उत्पन्न हुए संसार का
भुवनानि = लोकों को
भूयिष्ठाम् = अत्यन्त
मृत्युः = मौत (है)
महित्वा = महिमा से
यत् = जो
यत्कामाः = जिस २ कामना को लेकर
यः = जो
यस्य = जिसका जिसकी, जिसके
येन = जिसने = जिस परमात्मा के द्वारा
यत्र = जिस
युयोध = दूर कीजिये
राजा = राजा
रजसः = लोक-लोकान्तरों का
रयीणाम् = ऐश्वर्यों के
राये = ऐश्वर्य्य के लिए
विश्वानि = सब
विधेम = भक्ति करें
विश्वे = सब
विमान = विशेष रूप से निर्माण करने वाला है
विश्वा = सब
वयम् = हम
विधाता = कर्म फलों का देने वाला
वेद = जानता है
वयुनानि = कर्मों को
विद्वान् = जानने वाले हैं

सवितः = सबका उत्पन्न करने वाला
सम् + अवर्तत = वर्तमान था
सः = उसने (वह) = परमात्मा
स्वः = सांसारिक सुख को
स्तभितम् = धारण किया
स्याम = होवें
सुपथा = सरल मार्ग से

हिरण्यगर्भ = सूर्य्यादि समस्त ब्रह्माण्ड जिसके अन्दर हैं।
हविषा = प्रेम से = श्रद्धा से
= अन्तकरण से
= हार्दिक प्रेम के साथ
= उत्तम सामग्री से
= तन, मन, धन से
= अपनी पूरी शक्ति से।

वैदिक सिद्धान्तों का सारांश

[आर्य समाज के दस नियम]

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि-मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टि-कर्ता है। उसी की उपासना करने योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना, सुनाना (तथा तदनुकूल अपना आचरण बनाना भी) सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसे किस संस्था में सम्मिलित होकर अपना मानव जीवन सफल बनाने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ?

इस संसार में अनेकानेक महापुरुषों का जन्म हुआ है । उनमें से बहुतों ने अपने विचारानुकूल जनकल्याणार्थ धार्मिक संस्थायें स्थापित की हैं और उनके अनुयायियों को अपने भावानुकूल अपने २ इष्टदेव की उपासना करने का आदेश भी दिया और अपने भक्तजनों का ध्यान अपने इष्टदेव की ओर यहाँ तक आकर्षित कर दिया कि वे उस इष्ट देव को ही ईश्वर मानने लगे । उनकी इस भूल का परिणाम यह हुआ है कि उनके जीवात्मा अपने सच्चे सखा महाप्रभु ईश्वर से पुन: मिलने से वंचित रह जाते हैं और इसी संसार में वारम्बार अपनी यात्रा करते रहते हैं ।

इन्हीं महापुरुषों में से एक महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती हुये हैं जिन्होंने आर्य्य समाज की स्थापना कर, उसके अनुयायियों को स्पष्ट आदेश किया कि महापुरुषों तथा देवी देवताओं के जीवन से यह शिक्षा तो प्राप्त करो कि वे इस देवयोनि तक कैसे पहुंचे हैं, किन्तु अपना उपास्य एक मात्र केवल ईश्वर को ही मानों, ताकि लौकिक तथा पारलौकिक सभी सुख तुम्हें सुलभ हो जायें, क्योंकि पारलौकिक आनन्द प्राप्ति तो दूर रही, विना उस महाप्रभु ईश्वर की कृपा के लौकिक सुख की प्राप्ति भी दुर्लभ है । साथ ही यह शिक्षा भी दी कि उससे नाता जोड़ने के लिये पहले अपनी बुराइयों को दूर करो । वे चाहे

व्यक्तिगत हैं या सामाजिक, क्योंकि ये सभी उस महाप्रभु ईश्वर से मेल करने में रुकावटें हैं। वह महाप्रभु निर्विकार है। जब तक मनुष्य अपनी बुराइयों का त्यागकर निर्विकार नहीं बन जाता, तब तक मनुष्य का मेल उस महाप्रभु ईश्वर से नहीं बनता, क्योंकि दो समान तत्वों का ही पारस्परिक मेल हुआ करता है।

जब मनुष्य का मेल ईश्वर से हो जाता है, तब ही वह प्राणान्त पर या तो मुक्तात्माओं में सम्मिलित होकर देव लोक के आनन्द का भोग करता रहता है या सदैव के लिये मुक्त हो महाप्रभु ईश्वर की शरण में चला जाता है। संसार की समस्त धार्मिक संस्थाओं और आर्य्य समाज में यही एक भारी अन्तर है कि जहाँ अन्य संस्थायें अपने इष्टदेव तक ही सीमित हैं, वहाँ आर्य्य समाज सर्वशक्तिमान तथा सर्वोपरि महाप्रभु ईश्वर से पुनः मेल करने की रीति बतलाती है। अब यह मनुष्य की अपनी इच्छा है कि वह कौन सा मार्ग ग्रहण करे और किस संस्था का अनुयायी बनें। यदि मनुष्य लौकिक तथा पारलौकिक सुख दोनों का ही आनन्द लेना चाहता है, तो सभी संस्थाओं से अधिक आर्य्य समाज को महत्व दे और ईश्वरोपासना द्वारा सच्चा मनुष्य बनकर अपने जीवन को सार्थक बना ले। इसी में मनुष्य का कल्याण हैं और पूर्ति उसके जीवन लक्ष्य की सम्भव है। यह सच कहा है—

यह माना इल्म अच्छा, दवा अच्छी तबीब अच्छा।
पर होगा रोग उसी का दूर, है जिसका नसीब अच्छा ॥

———

योगाभिलाषी जनों की जानकारी के लिए जीव-भाव से आत्म-भाव में पहुंचने की अनेक शैलियों में से सरलातिसरल यौगिक साधन शैली।

यौगिक साधन शैली

यौगिक साधना दो प्रकार से की जा सकती है—(१) सकाम, (२) निष्काम यदि साधना सकाम है अर्थात किसी अभिलाषा से साधना करता है, तो चक्रभेदन करते समय उनके अधिष्ठाताओं द्वारा सत्कार किये जाने पर —प्राण रूप भेंट—वहीं चढ़ा दी जाती है। ऐसी साधना साधक को मुक्ति-लाभ से वञ्चित कर दिया करती है। हां, लौकिक दृष्टि से जब उस ऋद्धि-सिद्धि का प्रयोग कर लोगों को चकित करता है, तब लोग भी उसका मान किया करते हैं और उसे—सिद्ध, योगी, महात्मा या सिद्ध पुरुष—नाम की उपाधियाँ दे डालते हैं। ऐसे साधक—योग भ्रष्ट योगी—हुआ करते हैं ऐसे योगियों का पुनर्जन्म होता ही रहता है। मुक्ति नहीं पाते।

दूसरे—निष्काम कर्म योगी—होते हैं, जिनका लक्ष्य केवल—मुक्ति—प्राप्त करना ही होता है। ऐसे योगी कूटस्थ ज्योति (आत्मा) का ध्यान रखते हुये साधना करते रहते हैं और आत्म पन्थ (षट चक्र भेदन) पर चलते हुए मार्ग स्थित चक्रों के अधिष्ठाताओं द्वारा दिये गये प्रलोभनों को ठुकराते जाते हैं। ऐसे—सफल योगी निष्काम साधक—कहलाते हैं और ऐसे योगी ही अन्त में मुक्ति (ब्रह्म पद प्राप्ति) लाभ उठाया करते हैं। ये ही दो प्रकार की यौगिक साधन शैलियां हैं। साधक अपनी इच्छानुकूल किसी एक का अवलम्बन कर सकता है।

मनुष्य के लिए आत्म-ज्ञानद्वारा ही आत्मभाव में आना सुलभ होता है।

आत्मा और परमात्मा दो अलग-अलग चेतन तत्व होते हुये भी योग साधना से एक ही दीखने लगते हैं। जीवात्मा अपने पूर्व जन्मों के संस्कारानुकूल मनुष्य शरीर धारण किया करता है। यही परमात्मा का साकार रूप है। फिर निराकार रूप धारण करने के लिए जीव को आत्म-भाव में पहुचना अनिवार्य्य है। यदि मनुष्य ने परमात्मा में अटूट श्रद्धा से अपनी साधना की, तो एक दिन उसका जीव भाव आत्म भाव में बदल जायेगा। जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्निरूप धारण कर लेता है, वैसे ही जीव भी श्रद्धा सहित योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मवत प्रतीत होने लगता है। इसे ही जीवभाव से आत्म-भाव में पहुंचना कहते हैं। यह केवल योगाभ्यास द्वारा ही सम्भव है वरना जीव तो जीव है और परमात्मा परमात्मा। मनुष्य के लिए योगाभ्यास द्वारा प्रथम आत्य-ज्ञान प्राप्ति अनिवार्य है।

साधक के लिए आत्मज्ञान प्राप्तिकी यौगिक प्रणाली

१—ब्रह्मचर्य्य से रहना—

सद् आहार, सद् व्यायाम और सद्-व्यवहार या यों कहिए कि सादा खाना, सादा चलना और सादा रहना तीनों ही ब्रह्मचर्य्य साधन तथा उसकी रक्षार्थ अनिवार्य्य हैं। इनका पूरा पूरा विवरण—ब्रह्मचर्य्य रक्षा ही जीवन है। नामक पुस्तक में पढ़िये' मूल्य ३)

२—परमात्म-विषयक तत्वों में श्रद्धा—

साधक का अपनी यौगिक साधना में जीव भाव से आत्म भाव में पहुंचने के लिए अटूट श्रद्धा, हार्दिक लग्न, अथक परिश्रम और उच्च दृष्टिकोण रहना चाहिए।

३—वाह्य प्राण-प्रवाह की आन्तरिक प्राण-प्रवाह में बदलना

(अ) प्रथम मनुष्य नाड़ी संशोधन करे, ताकि श्वास-प्रश्वास क्रिया सुचारु रूप से हो सके।

(अ) मनुष्य २४ घण्टे में २१६०० श्वास लेता है। वह यदि कुम्भक की सहायता से इसे २००० पर ले आया, तो उसका वाह्य-प्राण-प्रवाह आन्तरिक प्राण-प्रवाह में बदल जायेगा।

४—कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति अर्थात आत्म ज्ञान का प्रादुर्भाव

सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी में जब आन्तरिक प्राण-प्रवाह बहने लगता है,

तव अनस्द नादका प्रादुर्भाव होता है । इसे ध्यान पूर्वक एकाग्र चित्त से सुनते रहना चाहिए। अभ्यास परिपक्व होने पर कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति हो आती है । अन्त में यह शक्ति जाग्रत होकर साधक को आत्म ज्ञान से सम्पन्न कर देगी । आन्तरिक प्राण-प्रवाह सुषुम्नान्तर्गत ओ३म् का श्वास प्रश्वास के साथ ३½ करोड़ जाप करने से हो जाता है ।

५—षट चक्र-भेदन क्रिया—प्राणायाम द्वारा

(अ) मूलबन्ध के साथ सिद्धासन लगाय समकाय होकर बैठ जाइये ।

(आ) मूलबन्ध तो लगा ही रहे, किन्तु श्वास खींचते जाइये और फिर-ओ३म् तत्सत्—के साथ कुम्भक लगाइए ।

(इ) खीचने से रोकने का समय चौगुना होना चाहिए ।

(उ) मूल बन्ध तो लगा ही रहे, किन्तु जालन्धर बन्ध लगाते जाइये और कुम्भक खोलते जाइए । इसी प्रकाह श्वास को भी छोड़ते जाइए, किन्तु श्वास छोड़ने का समय खींचने के समय से दुगना हो। रोकते समय और छोड़ते समय भी—ओ३म् तत्सत्—का पाठ पढ़िये ।

(क) इस सारे समय में कूटस्थ ज्योति पर दृष्टि लगाये रखिये । उपरोक्त क्रिया एक प्राणायाम होगा + ऐसे ऐसे प्राणाय म १५ से आरम्भ कर जितने किये जाये, करते रहिये । संख्या १०० तक पहुंचा दीजिए । चक्र भेदन क्रिया आरम्भ हो जायेगी ।

६—बुद्धि-भेद

जब सूक्ष्म-प्राण आज्ञा चक्र में चक्र भेदन करता हुआ पहुंच जाता है, तव जीवात्मा को प्राण तो वापिस मिल जाता है और मन भी प्राण के पीछे पीछे अपने स्वामी जीवात्मा के पास पहुंचने पर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, अर्थात अव जीवात्मा का सच्चा सेवक बनकर काम करने लगता है । अब शाम्भवी मुद्रा द्वारा प्राण की अन्तिम आहुति ब्रह्म रन्ध्र में लगा दीजिए, ताकि मनुष्य का जीव भाव आत्म भाव में बदल जाय ।

जीवभाव से आत्मभाव में पहुंचने तक साधक के लिए कतिपय यौगिक शब्दों की व्याख्या

जीव, आत्मा और प्राण

जीव— पञ्च भौतिक शरीर के स्वामी को–जीव–कहते हैं। शरीर धारण करने पर जीव को—शरीरी– कहते हैं। इसका परिणाम–अणु– होता है, जो एक बाल की नोक से भी सूक्ष्म होता है। इसका शरीर में मुख्य स्थान मस्तिष्क स्थित —आज्ञाचक्र–हैं। जीव शरीर में सीमित हो जाने पर जीवात्मा कहलाता है।

आत्मा–अपने पन की चेष्टा का नाम—आत्मा—है। यदि विश्व को एक पदार्थ मान लिया जाय, तो जो एक व्यापक चेतना सत्ता इसमें प्रतीत होती है. वह तो आत्मा और विश्व व्यापी चैतन्य सत्ता के साथ आत्मा शव्द जोड़ दिया जाय, तो वह है–परमात्मा—

प्राण—जो तत्व विश्व का पोषक और रक्षक है, उसे– प्राण–कहते हैं। यही तत्व बाह्य जगत में इस मानव शरीर में मन और इन्द्रियों की स्थिति का कारण बना हुआ है।

मानव शरीर में आकर यह भी दो प्रकार का बन जाता है:—

(१) स्थूल-प्राण (रक्त + वायु का मिश्रित रूप),

(२) सूक्ष्म-प्राण (वीर्य्य / रज + वायु का मिश्रत रूप),

स्थूल-प्राण की सहायता से मन में–स्वार्थ-भाव–उत्पन्न होता है।
सूक्ष्म-प्राण की सहायता से मनमें-परमार्थ भाव–आ जाया करता है

आत्मा और प्राण में अन्तर

आत्मा और प्राण कार्य्य-भेद से चाहे दो भिन्न तत्व प्रतीत होते हों, किन्तु दोनों रूप में वस्तुतः हैं एक ही। वही तत्व जब व्यक्तिगत या समष्टि रूप से पोषक तथा रक्षक का काय्य करता है, तब तो उसे–प्राण–कहते हैं और वही तत्व जब स्वामी और व्यवस्थापक का कार्य्य करता हुआ व्यक्ति रूप में होता है, तब तो उसे–जीवात्मा–और जब समष्टि रूप में इस विश्व का सचालक होता है, तब इसी तत्व को–परमात्मा–की उपाधि देते हैं।

स्वभाव राज्य और आत्मराज्य

इस मानव शरीर में दो राज्य हैं:–(१) स्वभाव राज्य (२) आत्मराज्य स्वभाव राज्य का प्रवन्ध–मन–के हाथ में है। और आत्म राज्य का प्रवन्ध –जीवात्मा—के हाथ में है।

स्वभाव राज्य को – वहिर्जगत्–भी कहते हैं। यहाँ उत्पन्न होने वाले भावों को – वहिर्मुखी वृत्तियाँ—कहते हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार का सामूहिक रूप है। प्राणों की सहायता से मन द्वारा इन्द्रियों के जितने भी कार्य वहिर्जगत में सम्पादित होते हैं; वे सब ही मनोविकार हैं और इन्हें ही वहिर्मुखी वृत्तियाँ कहते हैं। आत्म राज्य को—अन्तर्जगत–कहते हैं। यहाँ उत्पन्न होने वाले भावों को—अन्तर्मुखी वृत्तियाँ–कहते हैं।

वहिर्मुखी वृत्तियाँ स्थूल प्राण द्वारा उत्पन्न होती हैं, जो मनुष्य के बंधन का कारण हैं और अन्तर्मुखी वृत्तियाँ सूक्ष्म प्राण द्वारा, जो मनुष्य के मुक्त तक पहुंचाने का साधन हुआ करती हैं। जीवन लक्ष्य (मुक्ति) प्राप्ति के लिये साधन को स्थूल-प्राण-प्रवाह को सूक्ष्म-प्राण-प्रवाह में बदलना अनिवार्य होता है।

अन्तःकरण

मस्तिष्क स्थित आज्ञा चक्र में रहने वाले जीवात्मा के कार्य्यालय को अन्तःकरण कहते हैं, जिसमें चार कर्मचारी काम करते रहते हैं–

(१) मन, (२) बुद्धि, (३) चित्त, (४) अहंकार।

मन—जीवात्मा की तरफ से मन ही वहिर्जगत में सर्वेसर्वा है।

बुद्धि–जीवात्मा का अन्तर्जगत में मंत्री है। इसी के द्वारा मन के पास जीवात्मा के आदेश पहुंचते रहते हैं। माने या न माने यह मन पर निर्भर है।

चित्त–जीवात्मा के कार्य्यालय का रेकर्ड बोर्ड है (शरीर में होने वाले शुभाशुभ कर्म सभी यहाँ पर लिखे जाते हैं)

अहंकार–शारीरिक कार्य्य के सम्पादित हो चुकने के पश्चात जब चित-पट पर अंकित हो चुकते है, तब जीवात्मा उन्हें–अहम्भाव–दे देता है, अर्थात यह मान लेना है कि ये मैंने ही किये हैं। तत्फलस्वरूप ही जीवात्मा जन्म-मरण के चक्कर में पड़, उन्हें भोगता रहता है।

कर्म : धर्म : मुक्ति

कर्म–लौकिक या पारलौकिक रूप से कुछ साधना करना ही–कर्म–कहलाता है यहाँ यौगिक क्रियाओं का करना ही—कर्म—है, या यों कहिये जीव की जो उसके संस्कारों के कारण ईश्वर से पृथकता दीख पड़ती है, उससे जीवात्मा को फिरसे मिलाने की शैली का नाम ही कर्म है। जन्म जन्मान्तरों का सामूहिक कर्म ही–प्रारब्ध कर्म–कहलाता है।

धर्म-वह तत्व है जिसके अवलम्बन करने से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय क्रिया में सम्पन्न हुआ करती है। यह विश्व रूप अविच्छिन्न तत्व है। जब जीव मनुष्य रूप में आ जाता है, तब उसका धर्म-मानवता या मनुष्यत्व-हुआ करता है। जब तक उसमें मनुष्यत्व है वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी है वरना पशु। धर्मेणहीना पशुभिः समानाः।

मुक्ति-जीवात्मा जब अपने जन्म-जन्मान्तरों के प्रारब्ध कर्मों का योग साधन द्वारा भुगतान कर चुकता है, तब जीवात्मा की इस स्थिति का नाम ही मुक्ति है। मुक्ति से ही जीवात्मा को देव योनि प्राप्ति हुआ करती है या यों कहिये कि जन्म-मरण के चक्कर से छुट जाया करता है।

षट् चक्र लीला

षट्चक्र-रीढ़ की हड्डी के अन्तर्गत सुषुम्ना नाड़ी से इड़ा और पिंगला नाड़ियों द्वारा लिपटे रहने से जो गांठें उत्पन्न हो रही है, उन्हें ही चक्र कहते हैं। ये निम्नलिखित छः है—

१—मूलाधार— (यह गुदा से ६ अंगुल ऊपर है)
२—स्वाधिष्ठान— (यह मूत्रेन्द्रिय की जड़ में है)
३—मणिपुर— (जो नाभि के समीप है)
४—अनाहत— (जो हृदय के समीप है)
५—विशुद्धि— (जो कण्ठकूप में है)
६—आज्ञा चक्र— (जो मस्तिष्क में जीवात्मा का निवास स्थान है)
७—सहस्रार— (यह मस्तिष्क के ऊपरी भाग में जहाँ आर्य्य सिखा रखते हैं)

मस्तिष्क ग्रन्थि

यह एक स्थूल हैं जो आज्ञा चक्र से नीचे और विशुद्धि चक्र से ऊपर सुषुम्नान्तर्गत स्थित है। यह योग साधना में एक महत्वपूर्ण अंग है। यहां स्वभाव राज्य की सीमा तो समाप्त हो जाती है और आत्मराज्य की सीमा आरम्भ होती हैं। इसे पार करने पर ही आत्म दर्शन हुआ करते हैं। समस्त साधनायें इसी स्थल को पार करने के लिए हुआ करती है।

प्राणायाम के अंग

मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, उड्डियानबन्ध।

मूलबन्ध—गुदा संकोचन: जैसे घोड़ा लीद करने के पश्चात् अपनी गुदा का संकोचन किया करता है। जंघाओं को संखत कर गुदा को सुकोड़ ली जये; मूलबन्ध लग जायेगा। इसका जितना भी अभ्यास किया जाय, अच्छा है। इनके बिना सधे न तो ब्रह्मनाड़ी वीर्य्य कोप में डूबती है और न ब्रह्मनाड़ी वीर्य्य को खींचकर ऊर्ध्वरेता कर सकती हैं।

उड्डियान बन्ध—पेट को धीरे-धीरे अन्दर लेजाना और बाहर लाना

जालन्धर बन्ध—ठोडी को कण्ठ कूप में सटाना

प्राणायाम के अंग

षट् चक्र भेदन क्रिया में पहले समझा दिया गया है।

प्राणायाम के भेद

१—भस्त्रा—दोनों नथनों से श्वास-प्रश्वास क्रिया।

२—शीतली—श्वास तालु से लेना और नाँक से छोड़ना।

३—शीतकारी—जिह्वा और होठों की सहायता से श्वास लेना और नांक से छोड़ना।

४—उज्जयी—श्वास दोनों नथनों से लेना और बाँयें नथने से छोड़ना।

५—सूर्य्य भेदी—श्वास दाँयें से खींचना और बाँयें से छोड़ना।

६—भ्रामरी—बायें से श्वास खींचना और दाहिने से छोड़ना;
श्वास के साथ भ्रामरी का सा नाद करते रहना।

७—अनुलोम विलोम—इसमें भी बायें से खींचना और दायें से छोड़ना
किन्तु प्रत्येक प्राणायाम के पश्चात् श्वास-क्रम-बदलते रहना।

८—मूर्छा—(षट् मुखी मुद्रा) चित्त की एकाग्रता के लिये।
आँख, नाँक कान, मुँह बन्द करके श्वास लेना और छोड़ना

९—प्लाविनी—जलपर पड़े रहने के लिये किया जाता है।

अनहद नाद श्रवण करने की रीति

रात्रि के ३-४ बजे के बीच में ब्रह्ममुहूर्त के समय शान्त वातावरण में अनहद नाद सुनने का अभ्यास करना चाहिये।

१—सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासन से बैठ जाइये;

२—कूल्हे, रीढ़की हड्डी और गर्दन तीनों ही एक सीध में रखिये;

३—दोनों हाँथों से पञ्च महामुद्रा कीजिये;

अँगुलियों से आँख, कान और मुंह बन्द कर लीजिये;

४ मस्तिष्क को बिल्कुल ढीला छोड़कर अन्दर की नाद को सुनिये जो भीमरी के बोलने की जैसी प्रतीत होगी;

५—इस नाद के परिवर्तनों से घबराइये नहीं, अन्त में एक अखण्ड मण्डलाकार ज्योति के दर्शन होंगे। इसकी कोई अवधि नहीं है। यह अभ्यासी के संस्कारों पर निर्भर है। यह ज्योति का प्रादुर्भाव ही आत्म-दर्शन हैं।

इस ज्योति की जाग्रति होते ही साधन के अन्दर विषय वासनाओं का अन्त हो जाया करता है। यही आनन्द और शान्ति का समय होता है। इन दिनों ब्रह्मचर्य्य पालन, सात्विक आहार और संयमी जीवन की आवश्यकता है।

षट्चक्र भेदन की मानसिक क्रिया

(प्रातः और सांयकाल ईश्वरोपासना के पश्चात्)

१—मैं नीरोग हूँ। २. मै सच्चे प्रेम का उपासक हूं।

३—प्रसन्नता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।

४—आत्म-भाव तक पहुँचना मेरा परम कर्तव्य है।

५—मेरी आतमा, अजर, अमर और शान्त स्वरूप हैं।

(२० बार कहिये)

ईश्वरोपासना द्वारा जीवभाव से आत्मभाव में पहुंचना

प्रत्येक प्राणीका मुख्य धर्म ईश्वरोपासना की सहायता से
जीवभाव से आत्म-भावमें पहुंच इस दुर्जया मायासे
मुक्त होना है, ताकि शरीर त्यागनेपर परमपद-
प्राप्ति-लाभ उठा सकना सम्भव हो जाय।

इस सृष्टि के निर्माण में उस सृष्टिकर्त्ता की सत्ता (अष्टधा प्रकृति) ही तीनों लोकों की जननी है, जिसकी साम्यावस्था ही — जीव—है। यह जीव ही प्रकृति जन्य जड़ शरीरको सजीव बनाया करता है। इन दोनों—जड़ और चेतन—के मेल से ही – अहंभाव—की उत्पत्ति हुई है, जिससे इस शरीरका अस्तित्व है। जीवात्मा का सम्बन्ध एक ओर जहाँ ब्रह्मसे है; वहाँ दूसरी ओर उसकी दुर्जया माया प्रकृतिसे। जीवात्माका मायिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध विच्छेदसा भासता है। ब्रह्म के साथ सम्बन्ध उसी जीवात्मा का रहा करता है, जिसके हृदयमें उसकी सरकार और निरा-कार उपासना की ज्योति जगमगाने लगती है। ऐसी उपासना का सौभाग्य केवल उस प्राणी को ही हुआ करता है, जो उसके विज्ञान सहिज्ञानसे पूर्णत्या परिचित हो जाया करता है।

मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य आत्मवत् बनना और उसके लिये प्रयत्न करना है अर्थात् जीवभावसे आत्मभावमे ज्ञान और विज्ञान की सहायता से प्राणको मूलाधारसे निकालकर षट्चक्र-भेदन करता हुआ मस्तिष्क ग्रन्थि पर पहुंच उसें भी पारकर आज्ञा चक्रस्थ जीवात्मा के पास पहुंच प्राण रूप उसकी धरोहर उसे वापिस करनी है। जीवात्मा जितने काल तक मायिक सम्बन्धों से जकड़ा रहता है, उसे ही—जीवनकाल या आयु—कहते हैं।

इस आयुके यापनार्थ दो क्षेत्र हैं :—(१) स्वभावराज्य; (२) आत्मराज्य।

स्वभावराज्य जन्मजन्मान्तरों के शुभाशुभ कर्मफलों का भोगस्थल है। आध्यत्मिक दृष्टिसे इस स्वभावराज्यमें काल-यापन करते रहना जीवात्माकी अपनी अज्ञानता है। इस अज्ञानता से मुक्तिपानें और आत्म राज्यमें पहुंचने की यौगिक शैलीका नाम ही विज्ञान है। विज्ञान आत्म-ज्ञान प्राप्तिका एक साधन है या यों कहिये कि जीवात्माको जिसका जन्म-सिद्ध अधिकार आत्मज्ञान दिलाने का एक साधन है आत्म-ज्ञान प्राप्ति ही लौकिक भाषामें मनुष्यत्व है। इस की प्राप्ति जीवात्मा का एकमात्र धर्म है। यह स्वधर्माचरण ही जीवात्माको ईश्वरोपासनाका अधिकारी बनाया करता है: और इसी के फलस्वरूप साधन आत्मभाव में पहुंचा करता है। मनुष्यका यह वैज्ञानिक काल (मूलाधार से प्राणको लेकर आज्ञाचक्र तक पहुंचानेका षट्चक्र भेदन काल) नाना प्रकारकी रुकावटों में ऋद्धि-सिद्धि रूपमें आया करता है। ये ही आत्म-मार्गमें साधकके लिये पड़ाव हैं। जिन्हें यौगिक दृष्टि से चक्र या मानसिक केन्द्र कहते हैं।

स्वभावराज्य से आत्मराज्य की ओर जीवात्मा चार प्रकार के भावों से प्रेरित होकर प्रस्थान किया करता है कोई शारीरिक अथवा मानसिक दुःख निवृत्ति के लिये; कोई सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये, तो कोई उससृष्टि कर्त्ताकी अलौकिक लीलाकी खोज के लिये; किन्तु इन तीनों प्रकार के यात्रियोंका आत्म-राज्यमें प्रवेश कामनासहित ही हुआ करता है। कामनापूर्ति के सबही स्थल मूलाधारसे लेकर आज्ञाचक्रतक सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी में हैं। इन केन्द्रों के स्वामी देवता कहलाते हैं। ये परमात्माको ओर से आत्म-मार्ग के सकाम यात्रियों की मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति किया करते हैं। इसी लिये सकाम ईश्वर-भक्त इन देवताओं मेंसे किसी २ से प्रभावित हो उसीकी भेट में ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभन में पड़ प्राण को चढ़ा देते हैं और फिर वहीं ठहर जाते हैं। सकाम ईश्वर भक्त अपनी अपनी यात्रा का अन्तिम विश्राम अपने स्वभावानुकूल इन मानसिक केन्द्रों में से ही किसी एक को चुन लिया करते हैं और वहाँ के स्वामी को ही अपना इष्टदेव मान उसकी आराधनामें जुट जाया करते हैं। यौगिक दृष्टिसे ऐसे साधकोंको अविवेकी कहा है

या भ्रष्ट योगी। क्योंकि वे मायिक प्रलोभनों में पड़कर जीवन लक्ष्य प्राप्तिसे वंचित रह जाते हैं। ऐसे साधकों की उपासना का फल अधिक से अधिक अपने इष्टदेव के सदृश बनकर उनके लोकों का सुख-भोग ही प्राप्त कर सकते है, मुक्ति नहीं।

केवल ईश्वर-भक्त ही जिसका लक्ष्य केवल जीवाभावसे आत्मभावमें आना हुआ करता है, जिसे लौकिक दृष्टि से भगवद्दर्शन प्राप्ति कहते है, वही आत्म पथका यात्री आत्मराज्य की राजधानी आज्ञाचक्रमें पहुंच वहाँ के स्वामी जीवात्मा को प्राणरूप भेंट चढ़ाया करता है। ऐसा सौभाग्य केवल उस यात्री को ही प्राप्त हुआ करता है, जो अनासक्ति भाव से कूटस्थ ज्योति में लक्ष्य रखता हुआ अपने वैज्ञानिक काल में स्वमेव प्राप्त हुई ऋद्धि-सिद्धियों को ठुकरा दिया करता है।

उपासना के भी दो रूप होते हैं :—(१) सकाम उपासना: (२) निष्काम उपासना। सकाम उपासना का मूल्य भी कोई कम नहीं, यदि साधक ऋद्धि-सिद्धियों को ठुकराता हुआ मस्तिष्क ग्रन्थि पर जहाँ मायिक और आत्मिक प्रलोभन दोनों ही टक्कर खाते हैं, अटककर लौटना पड़ा अर्थात् मायिक जाल में पुनः न फँस गया। परमात्मा की दुर्जया माया से छुटकारा पाने के लिए परमात्मा की उपासना ही एकमात्र सहारा होता है। यदि उपासक परमात्मा के प्रति अटूट श्रद्धा और भक्ति भाव की जाग्रति हो आई, तो धीरे-धीरे उसकी यह सकाम उपासना भी निष्काम उपासनामें बदल जाया करती है; ऐसी स्थितिमें साधकको मस्तिष्क ग्रंथिपर आत्मदर्शन होनेपर उधर चल पड़ा करता है। आत्माके पास पहुंचने पर यह दुर्जन्य माया उपासकका स्वमेव पीछा छोड़ दिया करती है। मायाका आश्रय बन्धनका हेतु है और ब्रह्मका आश्रय—आत्मभाव प्राप्ति का साधन।

आज्ञा चक्रपर पहुंचनेपर जीवात्माको अहंभाव आ दबाया करता है कोई बिरला ही इस अहंभावसे बचा करता है और इसपर विजय पाकर

आत्मभाव तक पहुंचनेमें सफल हुआ करता हैं। शुभ संस्कारोंकी जाग्रतिपर जब प्राण जीवात्माके पास पहुंच जाता है, तब मन तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाया करता है और जीवात्मा प्राणरूप अपने धरोहड़ वापिस ले लेता है, तब साधकके लिए एक ही बात बाकी रह जाती है। वह है, प्राणोंकी अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्रमें देकर साधकका जीवभाव आत्मभाव में बदल जाता है। यह साधक की गुणातीत अवस्था हुआ करती हैं।

प्राण ही जीवनका आधार है। प्राणदानसे बढ़कर कोई दान नहीं। ब्रह्मसे बढ़कर कोई—सुपात्र—नहीं। ब्रह्मरन्ध्रसे बढ़कर कोई—पवित्र स्थान—नहीं, और साधनसिद्धि-निष्ठा अवसरसे श्रेष्ठ कोई काल नहीं। इस साधनमें आत्म-समर्पण (प्राणदान) ही अनासक्ति भाव है; इसलिए इस अभ्यासपर पहुंचते ही साधकका उस महाप्रभु परमात्मामें अटूट श्रद्धा और विश्वास हो जानेके कारण तद्वत् ही बन जाया करता है. अर्थात् साधकका जीवभाव आत्मभावमें परिवर्तित हो जाता है। यदि प्राणान्ततक साधक इस आत्मभावमें ही रहा, तो वह उस परमात्मामें तल्लीन हो जाता है।

सारांश

ब्रह्मकी माया तो प्रकृति है। मायान्तर्गत ब्रह्म ही द्रष्टारूप होकर ईश्वर नामकी उपाधि ग्रहण की है और कर्त्ता रूप बनकर जीव की। यह जीवभाव मायारूपी इस सृष्टिके खेलका ही फलस्वरूप है। जीव अवस्था तो क्षर है, और ईश्वर अवस्था अक्षर। दोनों ही इस माया रचित सृष्टिरूप खेलके खिलाड़ी हैं।

मानव जीवन का इतिहास

[जीव का जीवन काल]

जीव की प्रथम अवस्था

जीव, प्रकृति और ईश्वर—इन तीनों के सहयोग से ही इस सृष्टि की रचना हुई है। ये तीनों ही अनादि हैं। इनमें से प्रकृति तो—जड़—है, किन्तु—जीव और ईश्वर—चेतन। इन दोनों में भी—जीव अल्पज्ञ—और—ईश्वर सर्वज्ञ है।

जीव का सम्बन्ध एक ओर जहाँ ईश्वर से है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति से। ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुकूल जीव अपने जन्म-जन्मान्तरों के शुभाशुभ कर्मों के आधार पर ही यह मानव शरीर धारण किया करता है। ईश्वर अपने सखा जीव को मातृ-गर्भ में ही—प्राण और ज्ञान—प्रदान कर दिया करता है। ज्ञान तो मस्तिष्क स्थित ब्रह्मरन्ध्र में आ विराजता है और प्राण जीवात्मा के पास आज्ञा चक्र में डेरे डाल लेता है। प्राण प्रकृति की सहायता से मातृ गर्भ में ही—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—की रचना कर लेता है, जिनके सामूहिक रूप को—अन्तःकरण—कहते हैं।

ज्ञान आत्मा की अपनी शक्ति होती है; इसीलिये इसे—आत्म-ज्ञान—कहते हैं। यह मातृ गर्भ में जाग्रत रहने के कारण जीवात्मा को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान रहा करता है; इसीलिये जीव ईश्वर से प्रार्थना करता रहता है कि उसे शीघ्रातिशीघ्र इस गर्भ से बाहर निकाल दे, ताकि मैं तेरी भक्ति कर पुनः तेरे पास पहुंच सकूं।

जीव की द्वितीय अवस्था

[जीवात्मा के गर्भ से बाहर आने पर परिस्थिति]

जीव के मातृ-गर्भ से बाहर शरीरधारी बनकर आने पर–ज्ञान–तो ब्रह्म-रन्ध्र से चलकर षटचक्र भेदन करता हुआ स्वयम्भू लिंग से लिपट कर सुषुप्ति अवस्था में हो जाता है, तत्फलस्वरूप ही वह फिर शरीरधारी जीव, गर्भ स्थित ईश्वर से की हुई अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाया करता है।

जीवात्मा शरीर धारण करने पर उसके आधीन दो राज्य बन जाते हैं— [१] आत्म राज्य—इसका प्रबन्ध तो जीवात्मा–बुद्धि–को अपना मन्त्री बनाकर अपने हाथ में रखता है। [२] स्वभाव राज्य (वहिर्जगत) के लिए –मन–को अपना प्रतिनिधि बनाकर और उसे–प्राण-रूप शक्ति काम करने के लिए देकर भेज देता है, ताकि मन वहिर्जगत में अर्थात स्वभाव राज्य में जाकर ऐसे सत्कर्मों का सम्पादन करता रहे, जिनके फलस्वरूप उसके लिये नये संस्कार (किसी भावी जन्म की भूमिका) तो बने नहीं और उसके प्रारब्ध-कर्म-भोग इसी जीवन में समाप्त हो जायें, किन्तु मन वहिर्जगत में आकर मायिक चक्कर में ऐसा फँसा कि बुद्धि द्वारा लाये हुए जीवात्मा के आदेशों की तो अवहेलना करने लगा और प्राण की सहायता से इन्द्रियों द्वारा ऐसे विषयासक्त कर्मों का सम्पादन करने लगा जो इसकी अपनी स्थिति तो सुदृढ़ होती जाय और जीवात्मा अपने पुनीत लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति से हाथ धो बैठे। तत्फलस्वरूप ही जीवात्मा देव योनि प्राप्त करने की अपेक्षा इस मन के कार्य्यों के कारण जन्म-मरण के चक्कर में ही पड़ा रहता है। जीवात्मा अपने सखा ईश्वर से इसी कारण मिलने नहीं पाता।

यदि जीवात्मा के शुभ सस्कार जाग्रत हो आयें और मन महात्माओं के सत्संग तथा सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से प्रभावित हो आत्माभिमुखी बन बुद्धि से मेल कर ले, तब ही यह मन जीवात्मा के कल्याण का साधन बना करता है।

जीव की तृतीय अवस्था

प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग में प्रवेश

मन को प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग में लाने के लिए या यों कहिये कि वहिर्जगत से अन्तर्जगत में प्रस्थान कराने के लिए स्थूल-प्राण को सूक्ष्म प्राण में बदलना अनिवार्य्य है, क्योंकि मन बिना प्राणों के कुछ नहीं कर सकता। ऐसा निम्न साधनों में से किसी एक या दो का अभ्यास कर लीजिये। अभ्यास परिपक्व हो जाने पर स्थूल-प्राण सूक्ष्म प्राण में स्वत: ही बदल जायेगा। मन भी अन्तर्जगत में प्राण के पीछे-पीछे चल देगा। अब प्राण और मन—मूलाधार—पर जा पहुंचेंगे।

१—भस्त्रा प्राणायाम द्वारा।

२—अनहद नाद द्वारा;

३—प्रणव जाप द्वारा (ओ३म् का जाप श्वास के साथ)

४—अष्टांग योग की क्रियाओं द्वारा—

(अ) राजयोग शैली से;

(आ) हठयोग शैली से;

५—ईश्वर-भक्ति द्वारा—

(अ) ईश्वर सर्वव्यापी है,
(अ') शक्तिशाली है,
(इ) न्यायकारी है।

अपने जीवन में व्यावहारिक रूप देकर, इसे तो हर व्यक्ति को अपने कल्याणार्थ करना ही चाहिये।

साधना में ओ३म् का जाप श्वास प्रश्वास के साथ और ईश्वर-भक्ति साधक के लिये सुलभ पड़ेगी, किन्तु ब्रह्मचर्य से रहना अनिवार्य्य है।

जीव की चतुर्थ अवस्था

(जीव-भाव से आत्म-भाव में प्रवेश)

सूक्ष्म प्राण को मूलाधार से सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी से ऊर्ध्वरेता
करके आज्ञाचक्रस्थ जीवात्मा को उसकी धरोहण
समझ उसे लौटा देना और मन को उसके
स्वामी जीवात्मा के पास पहुंचाकर उसे
मायिक प्रपञ्चों (काम क्रोधादि)
के चक्कर से मुक्त कर उसके
स्वामी का सच्चा सेवक बना
देना ही साधक के लिये
जीव-भाव से आत्म-
भाव में पहुंचना
है।

स्थूल-प्राण जब मूलाधार चक्र पर पहुंच जाता है, तब यह सूक्ष्म-प्राण का रूप धारण कर लिया करता है। अब मन और इन्द्रियाँ प्राण की सहायता के अभाव में असक्त होने के कारण अपना मार्ग बदलकर बहिर्जगत से अन्तर्जगत में चली आती हैं। अब इन्हें भी आत्म-राज्य के मुख्य कार्य्यकर्त्ता ज्ञान से सहयोग प्राप्त होने लगता हैं। यहाँसे मनको बुद्धि से मिलकर काम करना है।

जब साधक अपने सूक्ष्म-प्राण को मूलाधार चक्र से उठा कर सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी से आज्ञा चक्र में जीवात्मा के पास लौटाने का प्रयत्न करता है, तब उसके सामने साधना निमित्त दो भावों में से कोई एक अवश्य हुआ करता है—सकाम भाव या निष्काम भाव—साधक का सकाम भाव तीन प्रकार की अभिलाषाओं में से किसी एक की पूर्ति निमित्त हुआ करता है—

१—किसी शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट-निवृत्तियों के लिए।
२—किसी साँसारिक कामना की पूर्ति के लिए।
३—उस सृष्टिकर्त्ता की किसी अलौकिक लीला की खोज करने के लिए।

उपरोक्त तीनों प्रकार के साधनों की यात्रा सकाम होने के कारण आत्म-राज्य में पहुंचने से पूर्व ही समाप्त हो जाया करती है, क्योंकि कामना-पूर्ति के सभी केन्द्र आज्ञा चक्र से नीचे सुषुम्नान्तर्गत वह्मनाड़ी में होते हैं।

जब साधक की साधना सकाम होती है, अर्थात किसी अभिलाषा को लिए हुए होती है, तब चक्र भेदन करते समय उनके अधिष्ठाताओं द्वारा सत्कार किये जाने पर साधक प्राण रूप भेट वहीं चढ़ा देता है। ऐसी साधना साधक को मुक्ति लाभ से वञ्चित कर दिया करती है। हां, लौकिक दृष्टि से साधक उस ऋद्धि-सिद्धि का प्रयोग कर लोगों को चकित करता है, तब लोग अवश्य उसका मान किया करते हैं और उसे योगी महात्मा या सिद्ध पुरुष नाम की उपाधियाँ भी दे डालते हैं। ऐसे साधक योगी भ्रष्ट योगी हुआ करते हैं। ऐसे योगी पुनः जन्म लेते ही हैं। मुक्ति नहीं पाते।

जब साधक की साधना निष्काम होती है, तब साधक आज्ञा चक्रस्थ कूटस्थ ज्योति आत्मा पर अपना लक्ष्य रखते हुये अपनी साधना किया करता है। ऐसा साधक आत्म पथ पर चलता हुआ मार्ग स्थित चक्र अधिष्ठाताओं द्वारा दिये हुये प्रलोभनों को ठुकराकर आगे बढ़ जाया करता है। वही सिद्ध योगी आत्मभाव में पहुंचने का अधिकारी हुआ करता है।

ऐसा साधक मूलाधार से विशुद्धि चक्र तक पार करके जब मस्तिष्क ग्रन्थि पर पहुंचता है, जो आज्ञाचक्र से नीचे है, तब उसके सामने बहिर्जगत और अन्तर्जगत दोनों का सम्पूर्ण चित्र सामने आ खड़ा होता है। यहाँ से साधक की जीवात्मा (कूटस्थ ज्योति) के दर्शन तो होते ही हैं, किन्तु यहाँ मायिक शक्ति का खिंचाव भी प्रबल रहा करता है इसीलिए अब कूटस्थ ज्योति की ओर बढ़ना सरल नहीं। इस समय साधक के मन में उपदेश रूप यह भाव उत्पन्न हुआ करता है कि मायिक शक्ति के त्यागने और कूटस्थ ज्योति (आत्मा) पर श्रद्धा सहित प्राण रूप भेट चढ़ाने से ही उसकी सेवा में पहुंचना सम्भव है। यही आत्म-ध्यान सिद्धि प्राप्ति की शैली है, या यों कहिये कि मन का जीवात्मा से मेल करने का अवसर है।

साधक का लक्ष्य आत्म-भाव की विशेषताओं के देखने की ओर होने के कारण वह आज्ञाचक्रस्थ कूटस्थ ज्योति की ओर चल पड़ता है। ज्यों ही प्राण आज्ञा चक्र में पहुंचता है, त्यों ही मन तो निस्तेज हो जाता है और जीवात्मा अपना जन्म सिद्ध अधिकार प्राण को प्राप्त कर लेता है। मन भी अब शुद्ध-बुद्ध मुक्त हो अपने स्वामी का सच्चा सेवक बन जाया करता है। यही जीव भाव से आत्मभाव में आना है।

आत्मदर्शन की विधि

मूलाधार से सूक्ष्म प्राण को ऊर्ध्वरेता करके सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्म नाड़ी से षट्चक्र-भेदन करते हुये मस्तिष्क-ग्रन्थि पार कर आज्ञाचक्र में स्थित जीवात्मा को समर्पित करने पर ही मन अपने स्वामी के पास लौटकर और मानसिक विकारों का त्याग करके शुद्ध-बुद्ध मुक्त बन जीवात्मा को मुक्ति का अधिकारी बनाने का साधन बन जाया करता है। यही मन के आत्मदर्शन से आशय है।

मेरु दण्डस्थ सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाडी से इड़ा और पिङ्गला नाम की दो सूक्ष्म नाड़ियाँ मूलाधार चक्रपर मिलती हैं, अतः इस स्थल को—युक्त-त्रिवेणी—कहा है। फिर दूसरी ओर ये तीनों नाड़ियाँ मस्तिष्क स्थित आज्ञाचक्र पर मिलती हैं, अतः इस स्थल—मुक्त—त्रिवेणी—कहते हैं। मूलाधार तो कामादि भावों का स्थल होने के कारण—प्रवृत्ति-स्थल—कहलाता है और आज्ञाचक्र निवृत्ति-स्थल। जीव का कल्याण इसी में है कि वह सूक्ष्म-प्राण को युक्त-त्रिवेणी से ऊर्ध्वरेता बनाकर आज्ञा चक्रस्थ मुक्त-त्रिवेणी पर पहुँचा दे, ताकि जीवात्मा अपना जन्म-सिद्ध अधिकार पुनः प्राप्त करले।

मूलाधार से आज्ञाचक्र तक बीच में मेरुदन्डस्थ सुषुम्नान्तर्गत् ब्रह्मनाड़ी से इड़ा और पिङ्गला की चार स्थलों पर गुन्थियाँ पड़ी हुई हैं, जिन्हें ही यौगिक दृष्टि से चक्र कहते हैं जो निम्नलिखित हैं :—

१—स्वाधिष्ठान; २—मणिपुर, ३—अनाहत ४—विशुद्धि।

चक्र तालिका चित्र

नाम चक्र	स्थान	तत्व	वृत्ति (भाव)	देवता
मूलाधार	गुदा के अन्तर्गत	पृथ्वी तत्व	काम वासना	काम देव
स्वाष्ठिान	स्वयम्भू लिंगपर	जलतत्व	क्रोध	ब्रह्मा
मणिपुर	नाभि पर	अग्नि तत्व	लोभ	इन्द्र
अनाहत	हृदय पर	वायु तत्व	ममता मोह	विष्णु
विशुद्धि	कण्ठ पर	आकाश तत्व	अहंकार	रुद्र
आज्ञाचक्र	मस्तिक में		शान्ति	

षट्चक्र-भेदन क्रिया

सूक्ष्म—प्राम को ऊर्ध्वरेता बना चक्रों मे से ले चलने के लिये खेचरी मुद्रा के साथ भस्त्रा प्राणायाम करना चाहिये। फिर सूक्ष्मप्राण मूलाधार से चलकर स्वाधिकान पर आकर स्वयम्भू लिंग की एक सहस्र नाड़ियों का सिञ्चन करने पर साधक का आत्मभाव की ओर बढ़ने की अभिलाषा उत्पन्न आ करनी है, या यों कहिये कि आत्मज्ञान रूपा कुण्डलिनी शक्ति जो स्वयम्भू लिंग से लिपटी हुई सुषुप्ति अवस्था में पड़ी हुई है, जाग्रत हो आयेगी। इसकी जाग्रति होते ही साधक के मनमें शान्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है।

ज्यों २ सूक्ष्म-प्राण ऊपर के चक्रों में मूलाधार से उठेगा, त्यों २ निम्न बातें भी होती रहेंगी—

१—मूलाधार का पृथ्वी तत्व स्वाधिष्ठान के जल तत्व में लीन हो जायेगा; और मूलाधार पर की काम वासनायें शान्त हो जायेंगी।

२—स्वाधिष्ठान पर सूक्ष्म प्राण आते ही काम वासनाओं का अभाव होते ही; क्रोध की उत्पत्ति होगी, शांति ही क्रोध को दबाने का एक मात्र साधन होगा। यह शांति कुण्डलिनी शक्ति (आत्म भाव) की जाग्रति पर स्वयं उत्पन्न हो आयेगी।

३—फिर स्वाधिष्ठान से सूक्ष्म-प्राण उठकर जब मणिपुर में पहुँचेगा तब जल-तत्व तो अग्नि तत्व में लय हो जायेगा और लोभ उत्पन्न हो आयेगा, जो समस्त बुराइयों की जड़ है। त्याग ही साधक को यहाँ से पार किया करता है।

४—मणिपुर से सूक्ष्म प्राण जब अनाहत में पहुँचता है, तब अग्नितल तो वायु तत्व में लय हो जाता है और साधक को अपने कुटुम्बियों के प्रति ममता मोह आ दबाता है। संसार की असारता ही उसे यहाँ से पार किया करती है।

५—अनाहत से सूक्ष्म-प्राण जब विशुद्धि चक्र में पहुँचता है, तब वायुतत्व तो आकाश तत्व में लय हो जाता है और उसे अहंकार आ दबाता है। इस अहंकार को सद्गुणों के सातत्य रूप के द्वारा ही दबाया या मिटाया जा सकता है।

सकाम साधक इन चक्रों के अधिष्ठाताओं द्वारा किये गये सत्कार में यदि आ गया और प्राण रूप शक्ति उनकी भेंट में देदी, तो साधक उसी चक्र पर अटक जाता है और आत्म-दर्शन से वञ्चित होने के कारण मुक्ति लाभ से हाथ धो बैठता हैं। ऐसे साधक यौगिक दृष्टि से तो—भ्रष्ट योगी—होते है और प्राणान्तर उन्हें जन्म लेना ही पड़ता है।

विशुद्धि-चक्र के रुद्र देवता की कृपा से उसे—वाक सिद्धि—प्राप्त हो जाया करती है। उसके वाक्य लोगों के लिए-बश्या शाप- बन जाया करते हैं। जनता उसे—सिद्ध योगी—या महात्मा-कहती हैं।

—निष्काम योगी—जिनका लक्ष्य केवल कूटस्थ ज्योति (आत्मा) पर ही रहता है, वे इन ऋद्धि सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ते और विशुद्धि चक्र को भी पारकर—मस्तिष्क ग्रन्थि- पर पहुंच जाते हैं।

सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी पर एक ऐसा स्थल है जहाँ से साधक को कूटस्थ ज्योति के दर्शन भी होते हैं और समस्त मायिक शक्ति का चित्र भी सामने दीख पड़ता है या यों कहिये कि जहाँ एक ओर—कूटस्थ ज्योति-का खिचाव है वहाँ दूसरी ओर-माया- का। साधक की स्थिति इस समय बड़ी ही विकट हुआ करती है, क्योंकि एक ओर मायिक वैभव का प्रलोभन होता है और चिराकाँक्षित आनन्द प्राप्ति के आशा। इस खींचातानी से साधक के हृदय में साधना के प्रति दुर्बलता आ जाना स्वाभाविक है, किन्तु साधक का मन कूटस्थ ज्योति पर होता है, अतः वह आज्ञा चक्र की ओर बढ़ जाता है।

ज्यों ही प्राण आज्ञा चक्र में पहुंचता है, त्यों ही मन भी निस्तेज हो जाता है और जीवात्मा अपना जन्म-सिद्ध अधिकार प्राण की प्राप्त कर लेता है।

खेचरी मुद्रा—प्राणायाम करते समय जिव्हा को उलटकर जिव्हा मूल में लगाये रखना ही-खेचरी मुद्रा-कहलाती है।

जीव की अन्तिम अवस्था

मन को प्राण सहित ब्रह्मरन्ध्र में लय कर देना ही साधक का अन्तिम विश्राम है, जहाँ साधक का जीवभाव आत्मभाव में बदल जाया करता है। इसी अवस्था में आकर साधक को मुक्ति लाभ होता है।

आज्ञाचक्र में आकर मन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो अपने स्वामी जीवात्मा के अनुकूल बन जाया करता है और उसका सच्चा सेवक बन उसे मुक्ति लाभ उठाने में सहायता करता है। अब जीवात्मा को प्राण-शक्ति मिल जाने पर आत्म-राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है।

अब साधक भी आज्ञा चक्र पार करके—परमात्म-बुद्धि को—प्राप्त करने के लिये प्राण की अन्तिम आहुति ब्रह्म यज्ञ में देने का प्रयत्न करने लगता है। इस अवस्था में साधक को—आत्मभाव— (माया रहित अव्यक्त भाव) में पहुचने तक मार्ग में कई स्तर पार करने पड़ा करते हैं। यह अनुभव सिद्ध बात है कि शुद्ध चिदाकाश में पहुंचने तक प्राकृतिक बुद्धि का खिचाव लगा ही रहता है, किन्तु चिदाकाश पार करते ही साधक में परमात्म बुद्धि (प्रज्ञा) का प्रादुर्भाव होने लगता है और मायिक आवरणों का प्रभाव जाता रहता है।

साधक की साधन सिद्धि अनाशक्ति भाव पर आश्रित है। अनाशक्ति भाव की परिपक्वता आते ही साधक प्राण की अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्र में डालने में सफल हो जाया करता है। ऐसा होते ही साधक का जीव भाव भी आत्म भाव में बदल जाया करता है और अब उसे ब्रह्मरन्ध्र से प्रवाहित आत्मरूप सूर्य्य की ज्योति सूर्य्य मण्डल में फैलकर उसके बुद्धि क्षेत्र को भी अपने तुल्य ही दीप्यमान बना लिया करती है अर्थात् प्राकृतिक बुद्धि भी परमात्म-बुद्धि (प्रज्ञा) में बदल जाया करती हैं।

आज्ञाचक्रसे ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचनेमें साधकको बहुतसी अवस्थाओंमें बदलना पड़ा करता है। ये अवस्थायें सबही ब्रह्मनाड़ीके स्तर हैं, जिनपर पहुंचकर साधकके जीवभावको तदानुसार बदलना ही पड़ा करता है। साधक ज्यों २ ब्रह्मरन्ध्र के समीप पहुंचता है, त्यों २ उसे परमात्म-प्रकाश भी मिलता जाता है। साधक इस अवस्थामें ही मुक्ति-लाभका अधिकारी बना करता है।

साधक जब अपने मनकी प्राणसहित ब्रह्मरन्ध्रमें अन्तिम आहुति लगा चुका है, तब ही वह आत्मभावको प्राप्त हुआ करता है और इसी दशामें उसे परमात्म-नाद भी सुनाई दिया करता है। साधक का यही सहस्रार-स्थित अंतिम विश्राम है। इस उच्चतम विश्राम-स्थलपर पहुंचकर ही साधकको सच्ची शान्ति प्राप्त हुआ करती है। यही मनुष्यका अन्तिम जीवन-लक्ष्य भी है। इसे प्राप्त करनेवाले ही जीवन-मुक्त हुआ करते हैं। ऐसे महापुरुष ही शरीर त्यागने पर ब्रह्म में लय हो जाया करते हैं अर्थात् सदैवके लिए मुक्त हो जाते हैं। सच है—

परमात्माको जब आत्मामें लिया देख ज्ञानकी आंखोंसे।
पार हुआ भवसागरसे, अब कोई क्लेश लगा न रहा।

जीव की जीवन-लीला

अथवा

माया के साथ उसकी क्रीड़ा का सारांश

ईश्वर जीव का सखा है। जीव ईश्वर से प्राणरूप शक्ति को लेकर संसार यात्राके लिए मानव शरीर धारण किया करता है। यहाँ आकर प्राण जब तक जीवात्माके प्रतिनिधि मनके साथ वहिर्जगतमें कार्य करता रहता है, जीवात्मा के लिए किसी नूतन योनि के संस्कार बनाता रहता है और जब निष्काम कर्म शैलीका अनुकरण कर अन्तर्जगतमें जीवात्माके पास मन सहित जा पहुंचता है, तब जीवात्माके प्रारब्ध कर्मोंकी तो समाप्ति हो जाती है और नूतन संस्कारों की उत्पत्ति होती नहीं। इस अवस्थामें जीवात्मा की शारीरिक अवधि-आयु-समाप्ति पर जीव अपनी जीवन-लीला समाप्त करके पुनः अपने सखा ईश्वरसे जा मिलता है। यही जीव का माया के साथ क्रीड़ा करना है। इति।

जीवनोद्धार कैसे हो? की विषय-सूची

१–मनुष्य अतुलित शक्तियों का भण्डार है, २–जीवनोद्धार पर वक्तव्य ३–ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध, ४–गायत्री मन्त्र और ईश्वरोपासना के आठ मन्त्र, ५–गायत्री मन्त्र महिमा, ६–गायत्री मन्त्र का भावार्थ, ७–गायत्री मन्त्र क्या है ? ८–गायत्री मन्त्र सिद्धि के लिए मेधाबुद्धि की प्राप्ति एक अनिवार्य्य विषय है, ९–गायत्री मन्त्र के जाप से लाभ, १०–मेधाबुद्धि की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रियता ही सर्वोपरि साधन है, ११–गायत्री मन्त्र का प्रथम खड ईश्वर स्तुति की व्याख्या:
१२–ओ३म् का महत्व, १३–ओ३म के जाप से होने वाला शरीर पर प्रभाव।"
१४–ओ३म् से ईश्वर के नामों की विस्तृत व्याख्या। अ–मे विराट, अग्नि और विश्व। उ–से हिरण्यगर्भ, वायु और तेज। म्—से ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा। १५–इन अक्षरों द्वारा होने वाली साधक के लिये सिद्धियाँ।

१६–ओ३म् जाप का फल। १७–अणिमादि सिद्धियाँ।

१८–ईश्वर-स्तुति-भूर्भुवःस्वः की व्याख्या। १९–ईश्वर उपासना तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि की व्याखया। २१–प्राणायाम और ब्रह्मचर्य्य। २२–प्राणायाम का व्यवहारिक जीवन प्रयोग। २३–प्राणायाम और ईश्वरोपासना एक दूसरे के पूरक हैं। २४–मानव जीवन में दो मार्ग—(१) सकाम, (२) निष्काम। २५–ईश्वर उपासना-धियो यो नः प्रचोदयात् की व्याख्या। २६–मेधाबुद्धि प्राप्त के लिये विधि। २७–गायत्री मंत्र का मनुष्य पर प्रभाव। २८–गायत्री मन्त्र पर गुरु शिष्य पर सम्वाद रूप में शंका समाधान।

२९–ईश्वरोपासना पर वक्तव्य। ईश्वरोपासना पर उपासक की शंकायें तथा उनका वेद मंत्रोंसे महर्षि द्वारा समाधान।३०-महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का जीवन। ३१–उपासना की आवश्यकता। ३२–ईश्वरोपासना का महत्व। ३३–याचना और उपासना में अन्तर। ३४–ईश्वर का अस्तित्व।

३५–ईश्वरोपासना के आठ मन्त्र और प्रत्येक मन्त्र व्याख्या सहित आठों मन्त्रों पर क्रमानुसार गुरु-शिष्य-सम्वाद। ३६–ईश्वरोपासना पर उप संहार।

३७–ईश्वरोपासना के आठों मन्त्रो का अर्थ सहित शब्द-कोष। ३८–आर्य समाज के दस नियम। ३९–मनुष्य अपना जीवन बनाने के लिये किस संस्था में सम्मिलित हो? ४०–यौगिक शैली की व्याख्या। ४१–जीव-भाव से आत्म-भाव में पहुंचने मे कठिनाइयाँ। ४२–आत्म भाव में पहुँचने का कार्यक्रम। ४३–यौगिक शब्दों की व्याख्या। ४४–मानव जीवन का इतिहास। ४५–जीव की जीवन लीला अर्थात् प्रकृति के साथ क्रीड़ा।

पाठकों को चेतावनी

जीवन में आनन्द प्राप्ति का एकमात्र साधन

वह महती शक्ति जिसने इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना की है, उसका सर्वोपरिनाम-ओ३म्–है। इसका निरन्तर श्वास-प्रश्वास के साथ जाप करते रहने से स्थूल-प्राण, सूक्ष्म प्राण में बदल जाया करता है और तत्फलस्वरूप जीवभाव भी आत्मभाव मे पहुँच उस महाशक्ति के सम्पर्क मेंआकर आत्मज्ञानी बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया करता है। फिर साधक सब प्रकार के मानसिक विकारों से मुक्त हो जाता है। यह आनन्द केवल मनुष्य को ईश्वरोपासना से ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

जानकारी के लिये कतिपय आवश्यक

विषय

विश्वव्यापी भारतीय संस्कृत

संस्कृति का अर्थ होता है—मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार— इतिहास के पन्ने उलटने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृत की अमिट छाप आज भी विश्व के कोने कोने में उन प्रदेशों की स्थापत्य कला, रीति-नीति एवं साहित्य पर अंकित है। यद्यपि उन प्रदेशों के अधिकांश निवासी धर्म परिवर्तन करके विधर्मी बन चुके हैं।

इस प्रकार यह कहना कोई अत्युक्ति न होगा कि भारतीय संस्कृत विश्व की सम्पूर्ण संस्कृतियों से प्राचीनतम हैं। यहीं पर सर्व प्रथम सभ्यता का संचार हुआ था और फिर यहीं से सभ्यता और सस्कृत का संचार सारे विश्व में फैल गया, जो आज भी संसार को—आत्मवत् सर्वभूतेषु—और—वसुधैव कुटुम्बकम्—का पाठ पढ़ाकर शान्ति का चिर-सन्देश दे रही है। यदि फिर से भारतीय नवयुवकों ने अपना ध्यान इधर दिया तो फिर विश्व के प्राणियों के मुखारविन्द से यही सुनाई देगा—यह बुद्धभारत गुरु है हमारा-१

आत्म-विजेता

आत्म-विजेता वही होता है, जिसने अपने मन को-निर्मल-और बुद्धि को—विकल—बना लिया है, जिसने अपने विचारों को—शुद्ध-और संकल्पों को-विशुद्ध-बना लिया है, तथा अपनी दृष्टि को-पवित्र— अपनी श्रुति को —पुनीत-कर लिया है।

आत्म विजेता-विनम्र-किन्तु-अदम— हुआ करता है। वह—शालीन— किन्तु—अदीन- हुआ करता है। वह-मृदु-किन्तु—अभय-होता है। वह -सन्तुष्टि— किन्तु दृढ़-निश्चय-हुआ करता है।

जीवन को सफल बनाने के लिये आत्म-संयम ही एक मात्र अस्त्र है।

मनुष्य को चाहिए कि वह आत्म-संयम के द्वारा जीतकर निष्कामी बने क्रोध का जीत कर मर्यादा पालक बने। लोभ को जीतकर अनासक्त बने। मोह को जीतकर कर्त्तव्यपरायण बने और अहंकार को जीतकर विनम्र तथा शालीन बने।

आर्य्य और दस्यु में अन्तर

मनुष्य जहाँ वह एक सामाजिक प्राणी है, वहाँ मननशील प्राणी भी है। मननशीलता, सहनशीलता और समझदारी एक—आर्य्य—के गुण हैं। मानवता की सीमाओं का उलंघन करने वाली—दस्यु—हुआ करता है।

कहते करते नहीं, मुंह के बड़े लवार। साक्षात् वे दस्यु हैं, नर हो चाहे नार।
कहते शुभ और शुभ ही करते, यथा कथन व्यवहार। साक्षात वे आर्य्य है।
नर हो चाहे नार॥

प्रत्येक आर्य्य का कर्तव्य है कि वह दस्युताकों संसार से मिटाने का प्रयत्न करे न कि दस्युओं को, फिर ही वह महर्षि श्रीमद्दयानन्द जी का उद्देश्य पूरा कर सकेगा—कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम।

ईश्वर का स्वरूप

'ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति के अनुकूल बनाया है'— यह बात इतनी सही नहीं जितनी कि मनुष्य ने भगवान को अपनी आकृति के अनुकूल बना लिया है। जो मनुष्य जैसा भी है, उसने भगवान् का स्वरूप अपने अनुकूल बना लिया और उसी प्रकार के गुण भी उसमें आरोपण कर डाले और फिर उसी ढंग से उपासना आरम्भ कर दी! युगों के बीत जाने पर भी—ईश्वर के स्वरूप—के विषय में ईश्वर भक्तो का एक मत नहीं बना; इसीलिये वैज्ञानिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को ही नहीं माना और यह धारणा बना ली कि ईश्वर तो मनुष्य के मस्तिष्क की एक अद्भुत सूझ है।

श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर के रूप को जो निर्धारित किया है, उसके प्रति योगीजन तथा मुमुक्षुओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि उसे परख कर जनता को नास्तिकता से मुक्त कर सही मार्ग बतलायें ताकि प्रत्येक मनुष्य का सीधा सम्बन्ध ईश्वर से बन जाय और अपना जीवन सफल बना सकें। फिर यह संसार ही स्वर्ग बन जायेगा।

इच्छा

इच्छा आत्मा का चिन्ह है और मानवता लक्षण। इच्छा रहित आज तक कोई नहीं हुआ और न कभी होगा। ईश्वर भी स्वयं, इच्छा-रहित नहीं है। इसीलिए तो हम कहते हैं—'हे ईश्वर ! तेरी इच्छा पूरी हो।' हमारी तो ईश्वर से प्रार्थना यही है कि हे प्रभो ! हमारी इच्छायें सत्कर्मों के प्रति हुआ करें।

यज्ञ का महत्व

यज्ञमय भावना को मानव जीवन का अंग बनाने के लिए और उसे विश्व-कल्याण का साधन बनाने के निमित्त महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने आर्य्य समाज के सदस्यों के दैनिक कार्य्यों में इसे सम्मिलित कर एक विशाल यज्ञ के रूप में कार्य्य किया है। यज्ञ का भौतिक रूप तो मानव शरीर के रोगों के नाश का कारण बना करता है और यौगिक या आध्यात्मिक रूप हमें सत्कर्मों की ओर प्रेरित कर हमारे जीवन लक्ष्य प्राप्ति का सुलभ साधन बन जाया करता है। यज्ञ द्वारा हमारा लौकिक जीवन ही किस प्रकार पारलौकिक जीवन का साधन बन सकता है, इसके लिए स्वामी योगानन्द सरस्वती द्वारा रचित—यज्ञ हवन पद्धति—का अवलोकन कीजिये। जो व्यक्ति यज्ञ के महत्व को समझ उसे जीवन में चरितार्थ कर लेता है, वह इस भव सागर से पार उतर जाया करता है।

वैदिक धर्म की विशेषता

वैदिक धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक आदि धर्मों की उन्नति का निर्देश करता है। सम-विकास इसका मूल मन्त्र है। इसमें श्रद्धा, तर्क, ज्ञान, कर्म, उपासना, त्याग और मोक्ष का आश्चर्यजनक प्रतिपादन किया गया है।

फूट का दुष्परिणाम

फूट एक राज रोग है। इसका जहाँ भी पञ्जा टिक जाता है, वहीं नाश कर देता है। चाहे वह घर हो, या समाज हो या देश हो। सभी को हानि उठानी पड़ा करती है। महाभारत का युद्ध इसकी जीती जागती उदाहरण है। सच कहा है—

खेत में उपजे सब कोई खाय।
घर में हो तो घर वह जाय॥

पागल की परिभाषा

विकृत मस्तिष्क व्यक्तिको लोग पागल कहते हैं। यह उनकी भारी भूल है। ऐसे व्यक्तिको तो आयुर्वेदमें पागल नहीं उन्मादी कहा है। पागल संज्ञा तो उन महात्माओंकी हुआ करती है, जो युग प्रवाहके साथ प्रवाहित न होकर युगके प्रवाहको ही मोड़ देते हैं। ऐसे प्रत्येक व्यक्तिको लोग पहले पागल कहा करते है, किन्तु अन्तमें उसे ही महर्षिके नामसे पुकारते हैं। महर्षि श्री मद्दयानन्द सरस्वती इसकी प्रज्ज्वलित उदाहरण है आज ऐसे पागलोंकी आवश्यकता है, जो मानव जातिके पतन-प्रवाहको मोड़कर उत्थानकी ओर कर दें।

धर्म

मनुष्यका अपना धर्म मनुष्यत्व है। इसके त्यागसे अधर्मका जन्म हुआ करता है। कभी २ तो अधर्मसे चक्रवर्ती राज्य तक भी प्राप्त हो जाया करता है। इस सुखको मनुष्य अपना सौभाग्य समझता है। यह याद रहे कि सुख-दुःख दोनों ही अनित्य हैं; केवल धर्म और जीव ही नित्य हैं। अनित्यके लिए नित्यका त्याग अशुभ कर्म है। वे व्यक्ति धन्य हैं जो अनित्य शरीरके लिए सुख-दुःखादिसे प्रभावित होनेपर भी धर्मका त्याग नहीं करते। धर्म एव हतो हन्ति, धर्मों रक्षति रक्षितः। धर्मके नष्ट होनेपर वह पदार्थ स्वयं नष्ट हो जाता है। धर्मके रहते हुये ही उस पदार्थका अस्तित्व बना रहता है। मनुष्य का धर्म—मनुष्यत्व – है, इसके नष्ट होनेपर पशु कहा जा सकता है।

धर्मेण हीना पशुभिः समाना।

चिन्ता की बात

१ यदि तुम्हें कोई दूसरा नहीं जानता है और न पहचानता है, तो कोई चिन्ताकी बात नहीं; किन्तु यदि तुम अपनेको न जानते और न पहिचानते हो, तो यह बड़ी चिन्ताकी बात है।

२ यदि संसार तेरा हित नहीं करता है, तो कोई चिन्ताकी बात नहीं; किन्तु यदि तू संसारका अहित करता है तो यह बड़ी चिन्ताकी बात है।

३ यदि संसार तेरी सेवा नहीं करता है, तो यह कोई चिन्ताकी बात नहीं।

यदि तू संसारकी सेवा नहीं करता है, तो यह चिन्ताकी बात है।

४ यदि सारा संसार भ्रष्ट हो गया है, तो चिन्ताकी कोई बात नहीं। यदि तू स्वयं भ्रष्ट हो गया है, तो यह बड़ी चिन्ताकी बात है।

सत्य की प्राप्ति

सत्यकी प्राप्तिके लिए, सर्वप्रथम सत्यवादी बनकर सत्यकी साधना कीजिये साधनासे साधकके अन्दर दक्षताकी प्राप्ति हुआ करती है। दक्षतासे श्रद्धाका जन्म होता है और श्रद्धासे सत्यकी उत्पत्ति हुआ करती हैं।
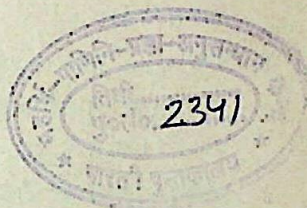
ईश-विनय

जीवन के अन्तिम क्षण तक, हे नाथ ! सुपथ पर मुझे चलाना।
कभी भूलकर चलूं कुपथ पर, खींच मुझे तुम पीछे लाना ॥१॥

नश्वर धन वैभव के लिए, कभी कुपथ पर भटक न जाऊं।
धन वैभव पाऊं तो भगवन्, सदा सुपथ पर चलकर पाऊं ॥२॥

चलना पड़े यहाँ से जिस दिन, जब साथ न इसे मैं ले जाऊं।
क्यों फिर मैं, इस धन के हेतु, चलूं कुपथ पर पाप कमाऊं ॥३॥

विनय यही है अन्तिम क्षण तक, हे नाथ सुपथ पर हमें चलाना।
कभी भूलकर चलूं कुपथ पर, खींच मुझे तुम पीछे लाना ॥४॥

एक ईश्वर-भक्त का दैनिक कार्य्यक्रम

१—नित्य प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में उठकर और शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान कर लेना चाहिए।

२—किसी एकान्त स्थान में बैठकर ईश्वरोपासना, सन्ध्या तथा यज्ञ हवन करना चाहिए।

३—फिर अपना दैनिक कार्य्यक्रम बना लेना चाहिये और उसे सद्भावना के साथ ईश्वर को सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी मानता हुआ सम्पादित करने में जुट जाना चाहिए।

४—भोजन सात्विक हो और केवल आवश्यकता पूर्तिमात्र ही—कम खाना और गम खाना सदैव लाभदायक हुआ करता है—यह ध्यान में रखें।

५—हर परिस्थिति में प्रसन्न चित्त रहे। जहाँ तक हो दूसरों की भलाई में अपना समय व्यय करे। बचे हुये समय को अपनी उन्नति के लिए व्यय करें। कुछ समय स्वाध्याय में भी अवश्य लगायें,

६—सायंकाल अपने दैनिक किये हुये कार्य्यों पर पुनः विचार करे कि कोई ऐसा कार्य्य तो सम्पादित नहीं हो गया है, जो उसके शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास में बाधाजनक हो, उसकी पुनरावृत्ति न होने दे और ईश्वर से प्रार्थना करे कि उसका जीवभाव आत्मभाव में ही प्राणान्त तक बना रहे ताकि प्राणान्त पर मुक्ति प्राप्त कर सके।